

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 55

डॉ. सागरमल.जैन आलेख संग्रह भाग- 3

# प्राकृत-आवर्णों एवं प्राकृत के अन्य जैन ग्रंथों से सम्बन्धित आलेख



डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)



# समर्पण



प. पू. मालव सिंहनी  
श्री वल्लभकुँवरजी म.सा.



प. पू. सेवामूर्ति  
श्री पानकुँवरजी म.सा.



प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री  
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.



प. पू. अध्यात्म रसिका  
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक -५२

सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग - ३

## प्राकृत-आगमों एवं प्राकृत के अन्य जैन ग्रंथों से सम्बन्धित आलेख



लेखक

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग - ३

प्राकृत-आगमों एवं प्राकृत के अन्य  
जैन ग्रंथों से सम्बंधित आलेख

- लेखक : डॉ. प्रो. सागरमल जैन
- प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)  
फोन नं. 07364 - 22218  
email - sagarmal.jain@gmail.com
- प्रकाशन वर्ष : २०१४-१५
- कापीराइट : लेखक डॉ. सागरमल जैन
- मूल्य : रुपए २००/-
- सम्पूर्ण सेट  
(लगभग २५ भाग) : ५०००/-
- मुद्रक : छाजेड़ प्रिन्टरी प्रा. लि.  
१०८, स्टेशन रोड, रतलाम (म. प्र.)



पुण्य स्मृति



स्व. श्रीमती कमलाबाई जैन

पत्नि : डॉ. सागरमल जी जैन

जन्म : मार्च 1934, फाल्गुन पूर्णिमा

देहविलय : दि. 8 अक्टूबर 2014, शरद पूर्णिमा



## प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन जैन विद्या एवं भारतीय विद्याओं के बहुश्रुत विद्वान हैं। उनके विचार एवं आलेख विगत ५० वर्षों से यत्रतत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के विभिन्न ग्रंथों की भूमिकाओं के रूप में प्रकाशित होते रहे हैं। उन सबको एकत्रित कर प्रकाशित करने के प्रयास भी अल्प ही हुए हैं। प्रथमतः उनके लगभग १०० आलेख सागरमल जैन अभिनंदन ग्रंथ में और लगभग १२० आलेख - श्रमण के विशेषांकों के रूप में 'सागर जैन विद्या भारती' में अथवा 'जैन धर्म एवं संस्कृति' के नाम से सात भागों में प्रकाशित हुए हैं। किंतु डॉ. जैन के लेखों की संख्या ही ३२० से अधिक है। साथ ही उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत तथा जैन धर्म और संस्कृति से सम्बंधित अनेक ग्रंथ की विस्तृत भूमिकाएं भी लिखी हैं। उनका यह समस्त लेखन प्रकीर्ण रूप से बिखरा पड़ा है। विषयानुरूप उसका संकलन भी नहीं हुआ है, उनके अनेक ग्रंथ भी अब पुनः प्रकाशन की अपेक्षा रख रहे हैं, किंतु छह-सात हजार पृष्ठों की इस विपुल सामग्री को समाहित कर प्रकाशित करना हमारे लिए सम्भव नहीं था- साध्वीवर्या सौम्यगुणा श्री जी का सुझाव रहा कि प्रथम क्रम में उनके वीकीर्ण आलेखों को ही एक स्थान पर एकत्रित कर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाए। उनकी यह प्रेरणा हमारे लिए मार्गदर्शक बनी और हमने डॉ. सागरमल जैन के आलेखों को संग्रहित करने का प्रयत्न किया। कार्य बहुत विशाल है, किंतु जितना सहज रूप से प्राप्त हो सकेगा- उतना ही प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाएगा। अनेक प्राचीन पत्र-पत्रिकाएं पहले हाथ से ही कम्पोज होकर प्रिंट होती थी, साथ ही वे विभिन्न आकारों और विविध प्रकार के अक्षरों से मुद्रित होती थी, उन सब को एक साइज में और एक ही फॉण्ट में प्रकाशित करना भी कठिन था- अतः उनको पुनः प्रकाशित करने हेतु उनका पुनः टंकण एवं प्रुफरीडिंग आवश्यक था। हमारे पुनः टंकण के कार्य में सहयोग किया श्री दिलीप नागर ने एवं प्रुफ संशोधन के कार्य में सहयोग किया- श्री चैतन्य जी सोनी एवं श्री नरेन्द्र जी गौड़ हम इनके एवं मुद्रांक आकृति ऑफसेट उज्जैन के साथ-साथ इन सभी के आभारी हैं।

नरेंद्र जैन

एवं ट्रस्ट मण्डल प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर



प्राकृत-आगमों एवं प्राकृत के अन्य  
जैन ग्रंथों से सम्बंधित आलेख

१.	आचारांगसूत्र एक विश्लेषण	५
२.	आचारांग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि	२३
३.	रामपुत्र या रामपुत्र : सूत्रकृतांग के सम्बंध में	३५
४.	अंतकृद्दशा की विषय वस्तु : एक पुनर्विचार	४१
५.	प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषय-वस्तु की खोज	५०
६.	जैन, बौद्ध और औपनिषदिक ऋषियों के उपदेशों का प्राचीनतम संकलन : ऋषिभाषित	७५
७.	मूलाचार : एक विवेचन	९८
८.	उपांग साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामग्री (एक संकलन)	११२
९.	राजप्रश्नीयसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन	१४४
१०.	वृश्णिदशा : एक परिचय	१५८
११.	राजप्रश्नीयसूत्र में चार्वाक मत का प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षा	१६१
१२.	प्राचीन जैनागमों-आचारांग, सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षा	१६६
१३.	जैन आगम साहित्य में श्रावस्ती	१७९
१४.	अंगविज्ञा में जैन मंत्रों का प्राचीनतम स्वरूप	१८३
१५.	आचार्य हरिभद्रकृत सावमधम्मं विहिपयरणं : एक परिचय	१९०
१६.	अंगविज्ञा और नमस्कार मंत्र की विकास यात्रा	१९७

## आचारांगसूत्र : एक विश्लेषण

आचारांगसूत्र जैन-आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रंथ है, यह अर्द्धमागधी में लिखा गया है, किंतु इसके प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कंध की भाषा एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। जहां प्रथम श्रुतस्कंध में अर्द्धमागधी का प्राचीनतम रूप परिलक्षित होता है, वहां द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम श्रुतस्कंध की अपेक्षा भाषा की दृष्टि से परवर्ती और विकसित लगता है। यद्यपि आचारांग मूलतः अर्द्धमागधी प्राकृत का ग्रंथ है, किंतु उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया है, फिर भी प्रथम श्रुतस्कंध में यह प्रभाव नगण्य ही है। मेरी दृष्टि में इस प्रभाव का कारण मूलतः एक लम्बी अवधि तक इसका मौखिक बना रहना है। यह भी सम्भव है कि जो अंश स्पष्ट रूप से और सम्पूर्ण रूप से महाराष्ट्री के हैं, वे बाद में जोड़े गए हों। यद्यपि इस सम्बंध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है, फिर भी भाषा सम्बंधी इस प्रभाव का कारण उपर्युक्त दोनों विकल्पों में से ही है। प्रथम श्रुतस्कंध मूलतः औपनिषदिक सूत्रात्मक शैली में लिखा गया है, जबकि दूसरा मुख्य रूप से विवरणात्मक और पद्यरूप में है। प्रथम श्रुतस्कंध की जो भाषा है, वह गद्य और पद्य-दोनों से भिन्न है। यद्यपि प्रथम श्रुतस्कंध में भी पद्य कुछ आ गए हैं, फिर भी उसकी सूत्रात्मक शैली दूसरे श्रुतस्कंध की शैली से भिन्न है। हमें तो ऐसा लगता है कि प्राकृत ग्रंथों की रचना में सर्वप्रथम आचारांग की प्रथम श्रुतस्कंध की सूत्रात्मक शैली का विकास हुआ, फिर सहज पद्य लिखे जाने लगे, फिर उसके बाद विकसित स्तर के गद्य लिखे गए। भाषा और शैली के विकास की दृष्टि से आचारांग के दोनों श्रुतस्कंधों में लगभग तीन शताब्दियों का अंतर तो अवश्य रहा होगा। आचारांग में आचार के सिद्धांतों और नियमों के लिए जिस मनोवैज्ञानिक आधारभूमि और मनोवैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया गया है, वह तुलनात्मक अध्ययन के लिए अद्भुत आकर्षण का विषय है।

आचारांगसूत्र का प्रतिपाद्य विषय श्रमण-आचार का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष है। चूंकि मानवीय आचार मन और बुद्धि से निकट रूप से जुड़ा हुआ है, अतः यह स्वाभाविक है कि आचार के सम्बंध में कोई भी प्रामाणिक

चिंतन मनोवैज्ञानिक सत्यों को नकारकर आगे नहीं बढ़ सकता है। हमें क्या होना चाहिए- यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम क्या हैं और क्या हो सकते हैं ? हमारी क्षमताएं एवं सम्भावनाएं क्या हैं ? आचरण के किसी साध्य और सिद्धांत का निर्धारण साधक की मनोवैज्ञानिक प्रकृति को समझे बिना सम्भव नहीं है। हमें यह देखना है कि आचारांग में आचार के सिद्धांतों एवं नियमों के प्रतिपादन में किस सीमा तक इस दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि का परिचय दिया गया है।

**अस्तित्व सम्बंधी जिज्ञासा : मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न**

आचारांगसूत्र के उत्थान में ही हमें उसकी दार्शनिक दृष्टि का परिचय मिल जाता है। सूत्र का प्रारम्भ ही आत्मा के अस्तित्व सम्बंधी मानवीय जिज्ञासा से होता है। पहला ही प्रश्न है -

अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए।  
के अंह आसी के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि॥

१।१।१।३

इस जीवन के पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं, अथवा इस जीवन के पश्चात् मेरी सत्ता बनी रहेगी या नहीं ? मैं क्या था और मृत्यु के उपरांत किस रूप में होऊंगा? यही अपने अस्तित्व का प्रश्न मानवीय जिज्ञासा और मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न है, जिसे सूत्रकार ने सर्वप्रथम उठाया है। मनुष्य के लिए मूलभूत प्रश्न अपने अस्तित्व या सत्ता का ही है। धार्मिक एवं नैतिक चेतना का विकास भी इसी अस्तित्व-बोध के स्वरूप-बोध पर आधारित है। मनुष्य की जीवन-दृष्टि क्या और कैसी होगी, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि अपने अस्तित्व, अपनी सत्ता और स्वरूप के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है? पाप और पुण्य अथवा धर्म और अधर्म की सारी मान्यताएं अस्तित्व की धारणा पर ही खड़ी हुई हैं, इसीलिए सूत्रकार ने कहा है कि जो इस 'अस्तित्व' या स्व-सत्ता को जान लेता है, वही आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है और क्रियावादी है। (सोहं से आयावाई लोगावाई कम्मवाई किरियावाई-१/१/१/४-५) व्यक्ति के लिए मूलभूत और सारभूत तत्त्व उसका अपना अस्तित्व ही है, और सत्ता या अस्तित्व के इस मूलभूत प्रश्न को उठाकर ग्रंथकार ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि



का परिचय दिया है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी जिजीविषा और जिज्ञासा मानव की मूल प्रवृत्तियां मानी गई हैं।

सत्य की खोज में संदेह (दार्शनिक जिज्ञासा) का स्थान

यह कितना आश्चर्यजनक है कि आचारांग श्रद्धा के स्थान पर संशय को सत्य की खोज का एक आवश्यक चरण मानता है। सम्भवतया, ऐसा प्रतीत होता है कि जैनधर्म के आरम्भिक काल में श्रद्धा का तत्त्व इतना प्रमुख नहीं था। आचारांग में 'णिक्लिखत्तदंडाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इहमुत्तिमग्गं' (१।६।१) कहकर समाधि एवं प्रज्ञा के रूप में जिस मुक्ति मार्ग का विधान हुआ है, वह स्वयं इस बात का संकेत करता है कि उस समय तक दर्शन और सम्यग्दर्शन शब्द श्रद्धा का सूचक नहीं था। यद्यपि आचारांग में दंसण और सम्मत्तदंसी शब्दों का प्रयोग देखा जाता है, किंतु मेरी दृष्टि में कहीं भी इसका प्रयोग श्रद्धा के अर्थ में नहीं हुआ है। अधिक से अधिक ये शब्द 'दृष्टिकोण' या 'सिद्धांत' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे-एयं पासगस्स दंसणं (१।३।४)। वस्तुतः, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी भी धार्मिक आंदोलन में श्रद्धा का तत्त्व उसके परवर्ती युग में, जबकि वह कुछ विचारों एवं मान्यताओं से आबद्ध हो जाता है, अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। आचारांग में संशय का जो स्थान स्वीकार किया गया है, वह दार्शनिक दृष्टि से काफी उपयोगी है। मानवीय जिज्ञासावृत्ति को महत्त्व देते हुए तो यहां तक कहा गया है कि 'संसय परिआगओ संसारे परिन्नये (१।५।१)', अर्थात् संशय के ज्ञान से ही संसार का ज्ञान होता है। आज समस्त वैज्ञानिक ज्ञान के विकास में संशय (जिज्ञासा) की पद्धति को आवश्यक माना गया है। संशय की पद्धति को आज एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में मान्यता प्राप्त है। ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति का यही एकमात्र मार्ग है, जिसे सूत्रकार ने पूरी तरह समझा है। ज्ञान के विकास की यात्रा संदेह (जिज्ञासा) से ही प्रारम्भ होती है, क्योंकि संशय के स्थान पर श्रद्धा आ गई, तो विचार का द्वार ही बंद हो जाएगा, वहां ज्ञान की प्रगति कैसे होगी ? संशय विचार के द्वार को उद्घाटित करता है। विचार या चिंतन से विवेक जाग्रत होता है, ज्ञान के नए आयाम प्रकट होने लगते हैं। आचारांग ज्ञान की विकास यात्रा के मूल में संदेह को स्वीकार करके चलता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो

यात्रा संदेह से प्रारम्भ होती है, अंत में श्रद्धा तक पहुंच जाती है। अपना समाधान पाने पर संदेह की परिणति श्रद्धा में हो सकती है। इससे ठीक विपरीत, समाधान-रहित अंधश्रद्धा की परिणति संदेह में होगी। जो संदेह से चलेगा, अंत में सत्य को पाकर श्रद्धा तक पहुंच जाएगा, जबकि जो श्रद्धा से प्रारम्भ करेगा, वह या तो आगे कोई प्रगति ही नहीं करेगा या फिर उसकी श्रद्धा खंडित होकर संदेह में परिणत हो जाएगी। यह है आचारांग की दार्शनिक दृष्टि का परिचय।

### आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण

आत्मा के स्वरूप या स्वभाव का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कहा है- जे आया से विनाया, जे विनाया से आया। जेण वियाणइ से आया। तं पडुच्च पडिसंखाये-(१/५/५)। इस प्रकार, वह ज्ञान को आत्म-स्वभाव या आत्म-स्वरूप बताता है। जहां आधुनिक मनोविज्ञान चेतना के ज्ञान, अनुभूति और संकल्प- ऐसे तीन लक्षण बताता है, वहां आचारांग केवल आत्मा के ज्ञान लक्षण पर बल देता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यही दोनों में अंतर प्रतीत होता है, किंतु अनुभूति (वेदना) और संकल्प- यह दोनों लक्षण शरीराश्रित बद्धात्मा के हैं, अतः ज्ञान ही प्रथम लक्षण सिद्ध होता है। वैसे, आचारांगसूत्र में तथा परवर्ती जैन ग्रंथों में भी मनोविज्ञानसम्मत इन तीनों लक्षणों को देखा जा सकता है, फिर भी आचारांगसूत्र का आत्मा के विज्ञात्म स्वरूप पर बल देने का एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक कारण है, क्योंकि आत्मा की अनुभूत्यात्मक एवं संकल्पात्मक अवस्था में पूर्णतः सम्भाव या समाधि की उपलब्धि सम्भव नहीं है, जब तक सुख दुःखात्मक वेदना की अनुभूति है या संकल्प-विकल्प का चक्र चल रहा है, आत्मा पर भाव में स्थित होता है, चित्त समाधि नहीं रहती है। आत्मा का स्वरूप या स्वभाव धर्म तो समता है, जो केवल उसके ज्ञाता-दृष्टा रूप में स्वरूपतः उपलब्ध होता है। वेदक और कर्ता रूप में वह स्वरूपतः उपलब्ध नहीं है।

मन का ज्ञान : साधना का प्रथम चरण

निर्ग्रन्थ साधक के लक्षणों का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहता है- जो

मणं परिजाणई से निगंथे जे मणे अपावए-२/१५/४५। जो मन को जानता है और उसे अबवित्र नहीं होने देता है, वही निर्ग्रन्थ है। इस प्रकार, निर्ग्रन्थ श्रमण की साधना का प्रथम चरण है- मन को जानना और दूसरा चरण है- मन को अपवित्र नहीं होने देना। मन की शुद्धि भी स्वयं मनोवृत्तियों के ज्ञान पर निर्भर है। मन को जानने का मतलब है- अंदर झांककर अपनी मनोवृत्तियों को पहचानना, मन की ग्रंथियों को खोजना, यही साधना का प्रथम चरण है। रोग का ज्ञान और उसका निदान उससे छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण विधि में भी मनोग्रंथियों से मुक्त होने के लिए उनको जानना आवश्यक माना गया है। अंतरदर्शन और मनोविश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान की महत्त्वपूर्ण विधियां हैं, आचारांग में उन्हें निर्ग्रन्थ साधना का प्रथम चरण बताया गया है। वस्तुतः, आचारांग की साधना अप्रमत्तता की साधना है और यह अप्रमत्तता अपनी चित्तवृत्तियों के प्रति सतत जागरूकता है। चित्तवृत्तियों का दर्शन सम्यग्दर्शन है, स्व-स्वभाव में रमण है। आधुनिक मनोविज्ञान जिस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए मनोग्रंथियों को तोड़ने की बात कहता है, उसी प्रकार जैन दर्शन भी आत्मशुद्धि के लिए ग्रंथि-भेद की बात कहता है। ग्रंथि, ग्रंथि-भेद और निर्ग्रन्थ शब्दों के प्रयोग स्वयं आचारांग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं। वस्तुतः, ग्रंथियों से मुक्ति ही साधना का लक्ष्य है- गंथेहिं विवत्तेहिं आउकालस्स पारए-१/८/८/११। जो ग्रंथियों से रहित है, वही निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ होने का अर्थ है- राग-द्वेष या आसक्तिरूपी गांठ का खुल जाना। जीवन में अंदर और बाहर से एकरूप हो जाना, मुखौटों की जिंदगी से दूर हो जाना, क्योंकि ग्रंथि का निर्माण होता है रागभाव से, आसक्ति से, मायाचार या मुखौटों की जिंदगी से। इस प्रकार, आचारांग एक मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रस्तुत करता है। आचारांग के अनुसार, बंधन और मुक्ति के तत्त्व बाहरी नहीं, आंतरिक हैं। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि- 'बंधप्पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव- ' १/५/२। बंधन और मोक्ष हमारे अध्यवसायों किंवा मनोवृत्तियों पर निर्भर हैं। मानसिक बंधन ही वास्तविक बंधन है। वे गांठें, जिन्होंने हमें बांध रखा है, वे हमारे मन की ही गांठें हैं। वह स्पष्ट उद्घोषणा करता है कि- 'कामेसु गिद्धा



निचयं करेति-’ १/३/२, कामभागों के प्रति आसक्ति से ही बंधन की सृष्टि होती है। वह गांठ, जो हमें बांधती है, आसक्ति की गांठ है, ममत्व की गांठ है, अज्ञान की गांठ है। इस आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हिंसा व्यक्ति की और संसार की सारी पीड़ाओं का मूल स्रोत है। यही जीवन में नरक की सृष्टि करती है, जीवन को नारकीय बनाती है। एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए- १/१/२। आचारांग के अनुसार, विषय-भोग के प्रति जो आतुरता है, वही समस्त पीड़ाओं की जननी है (आतुरा परितावेति-१/१/२)। यहां हमें स्पष्ट रूप से विश्व की समस्त पीड़ाओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। सूत्रकार स्पष्ट रूप से कहता है कि - ‘आसंचछंद विगिंच धीरे। तुमंच चेव तं सल्लमाहट्टु-१/२/४। हे धीर पुरुष! विषय भोगों की आकांक्षा और तत्संबंधी संकल्प-विकल्पों का परित्याग करो। तुम स्वयं इस कांटे को अपने अंतःकरण में रखकर दुःखी हो रहे हो। इस प्रकार आचारांग बंधन, पीड़ा या दुःख के प्रति एक आत्मनिष्ठ एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। वह कहता है-जे आसवा, ते परिस्सवा, जे परिस्सवा, ते आसवा (१/४/२), अर्थात् बाहर में जो बंधन के निमित्त हैं, वे भी कभी मुक्ति के निमित्त बन जाते हैं। इसका आशय यही है कि बंधन और मुक्ति का सारा खेल साधक के अंतरंग भावों पर आधारित है। यदि इसी प्रश्न पर हम आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें, तो यह पाते हैं कि आधुनिक मनोविकृतियों के कारणों का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि आकांक्षाओं का उच्चस्तर ही मन में कुण्ठाओं को उत्पन्न करता है और कुण्ठाओं के कारण मनोग्रंथियों की रचना होती है, जो अंततोगत्वा व्यक्ति में मनोविकृतियों को उत्पन्न करती है।

### मनोवृत्तियों की सापेक्षता

आचारांगसूत्र में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग (प्रेम), द्वेष, मोह आदि की परस्पर की सापेक्षता को सूचित करते हुए यह बताया गया है कि जो इनमें से किसी एक को भी सम्यक् प्रकार जान लेता है, वह अन्य सभी को जान लेता है और जो एक पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है, वह अन्य सभी पर विजय प्राप्त कर लेता है। (जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ, जे

एगं नामे से बहुं नामे, जे बहुं नामे से एगं नामे- १/३/४)। आश्चर्य यही है कि अभी तक इन सूत्रों के तत्त्वमीमांसीय या ज्ञानमीमांसीय अर्थ लगाए गए और इनके मनोवैज्ञानिक संदर्भ को ओझल किया गया, जबकि ये सूत्र विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक हैं, क्योंकि इस उद्देशक का सम्पूर्ण संदर्भ कषायों से सम्बंधित है, जो मनोविज्ञान का विषय है। इन कषायों के दुश्चक्र से वही मुक्त हो सकता है, जो अप्रमत्त चेता है, क्योंकि जैसे ही व्यक्ति इनके प्रति सजग बनता है, इनके कारणों और परिणामों को देखने लगता है, वह मनोवृत्तियों के पारस्परिक सम्बंध स्पष्ट होते हुए पाता है। जब व्यक्ति क्रोध को देखता है, तो क्रोध के कारणभूत द्वेषभाव और द्वेष के कारणभूत रागभाव को भी देख लेता है। जब वह अहं या मान का दृष्टा बनता है, तो अहं की तुष्टि के लिए मायावी मुखौटों का जीवन भी उसके सामने स्पष्ट हो जाता है। सूत्रकार ने पूरी स्पष्टता के साथ इस बात को प्रस्तुत किया कि किस प्रकार किसी एक मनोवृत्ति (कषाय) का दृष्टा दूसरी सभी सापेक्ष रूप में रही हुई मनोवृत्तियों का दृष्टा बन जाता है। वह कहता है - जो क्रोध को देखता है, वह मान (अहंकार) को देख लेता है। जो मान को देखता है, वह माया (कपटवृत्ति) को देख लेता है। जो माया को देखता है, वह लोभ को देख लेता है। जो लोभ को देखता है, वह राग-द्वेष को देख लेता है। जो राग-द्वेष को देखता है, वह मोह (अविद्या) को देख लेता है और जो मोह को देखता है, वह गर्भ (भावी जन्म) को देखता है और जो गर्भ को देखता है, वह जन्म-मरण की प्रक्रिया को देख लेता है। इस प्रकार, एक कषाय का सम्यक् विश्लेषण उससे संबंधित अन्य कषायों का तथा उनके परिणामों और कारणों का सम्यक् बोध करा देता है (१/३/४), क्योंकि सभी मनोवृत्तियां परस्पर सापेक्ष होकर रहती हैं। जहां मोह होता है, वहां राग-द्वेष होते हैं, वहां लोभ होता ही है। जहां लोभवृत्ति होती है, वहां माया या कपटाचार आ ही जाता है। जहां कपटाचार होता है, वहां उसके पीछे मान या अहंकार का प्रश्न जुड़ा रहता है और जहां मान या अहंकार होता है, उसके साथ क्रोध जुड़ा रहता है। राग के बिना द्वेष का और द्वेष के बिना राग का टिकाव नहीं है। इसी प्रकार, क्रोध का टिकाव अहंकार पर और अहंकार का टिकाव मायाचार पर, मायाचार का टिकाव लोभ पर निर्भर करता

है। कोई भी कषाय दूसरी कषाय से पूरी तरह निरपेक्ष होकर नहीं रह सकती है, अतः किसी एक कषाय का समग्र भाव से विजेता सभी कषायों का विजेता बन जाता है और एक का द्रष्टा सभी का द्रष्टा बन जाता है।

**कषाय-विजय का उपाय : द्रष्टा या साक्षीभाव**

आचारांग में मुनि और अमुनि का अंतर स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि जो सोता है, वह अमुनि है, जो जागता है, वह मुनि है। यहां जागने का तात्पर्य है- अपने प्रति, अपनी मनोवृत्तियों के प्रति सजग होना या अप्रमत्तचेता होना है। प्रश्न हो सकता है कि अप्रमत्तचेता या सजग होना क्यों आवश्यक है। वस्तुतः, जब व्यक्ति अपने अंतर में झांककर अपनी वृत्तियों का द्रष्टा बनता है, तो दुर्विचार और दुष्प्रवृत्तियां स्वयं विलीन होती जाती हैं। जब घर का मालिक जागता है, तो चोर प्रवेश नहीं करते हैं, उसी प्रकार जो साधक सजग हैं, अप्रमत्त हैं, तो उनमें कषायें पनप नहीं सकतीं, क्योंकि कषाय स्वयं प्रमाद है, तथा प्रमाद और अप्रमाद एक साथ नहीं रह सकते हैं। अतः, अप्रमाद होने पर कषाय पनप नहीं सकते। आचारांगसूत्र में बार-बार कहा गया है- 'तू देख' 'तू देख' (पास पास)। यहां देखने का तात्पर्य है- अपने प्रति या अपनी वृत्तियों के प्रति सजग होना, क्योंकि जो द्रष्टा है, वही निरुपाधिक दशा को प्राप्त हो सकता है। (किमत्थि उवाही पासगस्स, ण विज्जइ ? नत्थि १/३/४)।

वस्तुतः, आत्मा जब अपने शुद्ध ज्ञाता स्वरूप में अवस्थित होती है, संसार के समस्त पदार्थ ही नहीं, वरन् उसकी अपनी चित्तवृत्तियां और मनोभाव भी उसे 'पर' - (स्व से भिन्न) प्रतीत होते हैं। जब वह 'पर' को 'पर' के रूप में जान लेता है और उनसे अपनी पृथक्ता का बोध कर लेता है, तब वह अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप को जानकर उसमें अवस्थित हो जाता है। यही वह अवसर होता है, जब मुक्ति का द्वार उद्घाटित होता है, क्योंकि जिसने 'पर' को 'पर' के रूप में जान लिया है, उसके लिए ममत्व या राग के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता है। राग के गिर जाने पर वीतरागता का प्रकटन होता है और मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

## मन के पवित्रीकरण की मनोवैज्ञानिक विधि

चित्त को अपवित्र नहीं होने देने के लिए मन की वृत्तियों को देखना जरूरी है, क्योंकि यह मन को दुष्प्रवृत्तियों से बचाने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार, मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्ता की दो भूमिकाओं का निर्वाह नहीं कर सकता है। उदाहरण के लिए, वह अपने क्रोध का कर्ता एवं द्रष्टा एक साथ नहीं हो सकता। मन जब कर्ता से द्रष्टा की भूमिका में आता है, तो मनोविकार स्वयं विलीन होने लगते हैं। मन तो स्वतः ही वासना और विकार से मुक्त हो जाता है, इसीलिए कहा गया है- अप्पमत्तो कामेहि उवरतो-१/२/१। सव्वतो पमत्तस्स भयं-अप्पमत्तस्स नत्थि भयं-१/३/४। जो अप्रमत्त है, वह कामनाओं से और पापकर्मों से ऊपर है, प्रमत्त को ही विषय-विकार में फँसने का भय है, अप्रमत्त को नहीं। अप्रमत्तता या सम्यग्द्रष्टा की अवस्था में पाप-कर्म असम्भव हो जाता है, इसीलिए कहा गया है-सम्मत्तदंसी न करेइ पावं-१/३/२, अर्थात् सम्यग्द्रष्टा कोई पाप नहीं करता है। आचारांग में मन को जानने अथवा अप्रमत्त चेतना की जो बात बार-बार कही गई है, वह मन को वासनामुक्त करने का या मन के पवित्रीकरण का एक ऐसा उपाय है, जिसकी प्रामाणिकता, आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है। जब साधक अप्रमत्त चेतना से युक्त होकर द्रष्टाभाव में स्थित होता है तब सारी वासनाएं और सारे आवेग स्वतः शिथिल हो जाते हैं। इसी प्रकार, यह कहकर कि 'आयंकदंसी न करेइ पावं-१/३/२', पुनः एक मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया गया है। जो अपनी पीड़ा या वेदना को देख लेता है, उसके लिए पापकर्म में फँसना एक मनोवैज्ञानिक असम्भावना बन जाती है। जब व्यक्ति पापकर्म या हिंसाजनित पीड़ा का स्वयं आत्मनिष्ठ रूप में अनुभव करता है, हिंसा करना उसके लिए असम्भव हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार पाप से विरक्त होने के लिए मनोवैज्ञानिक सत्यों पर अधिष्ठित पद्धति प्रस्तुत करता है।

## धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

आचारांग में अहिंसा, समाधि और प्रज्ञा को मोक्षमार्ग कहा गया है।



इसमें अहिंसा को पूर्ण स्थान दिया गया है। यहां साधना का क्रम अंदर से बाहर की ओर न होकर बाहर से अंदर की ओर है, जो अधिक मनोवैज्ञानिक है। अहिंसा की साधना के द्वारा जब तक परिवेश एवं चित्तवृत्ति निराकुल नहीं बनेगी, समाधि नहीं होगी और जब तक समाधि नहीं आएगी, प्रज्ञा का उदय नहीं होगा। इस संदर्भ में आचारांग के दृष्टिकोण में और परवर्ती जैन दर्शन के दृष्टिकोण में स्पष्ट अंतर है। वह आचार-शुद्धि की ओर बढ़ता है।

आचारांग में, धर्म क्या है- इसके दो निर्देश हमें उपलब्ध होते हैं। प्रथम श्रुतस्कंध के चतुर्थ अध्याय के प्रथम उद्देशक के प्रारंभ में अहिंसा को शाश्वत, नित्य और शुद्ध धर्म कहा गया है, (सर्वे भूया, सर्वे जीवा, सर्वे सत्ता न हंतव्वा---एस धम्मे सुद्धे, निडए, सासए समिच्च लोये खेयणोहिं पवेइए- १/४/१) और प्रथम श्रुतस्कंध के आठवें अध्याय के तीसरे उद्देशक में समता को धर्म कहा गया है, समियाए धम्मे आरियेहिंपवेइए (१/८/३)। वस्तुतः, धर्म की ये दो व्याख्याएं दो दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अहिंसा व्यावहारिक एवं समाज सापेक्ष धर्म है, जबकि वैयक्तिक एवं आंतरिक दृष्टि से समभाव ही धर्म है। सैद्धांतिक दृष्टि से अहिंसा और समभाव में अभेद है, किंतु व्यावहारिक दृष्टि से वे अलग हैं। समभाव की बाह्य अभिव्यक्ति अहिंसा बन जाती है और यही अहिंसा जब स्वकेंद्रित (स्वदया) होती है, तो समभाव बन जाती है।

**समत्व या समता धर्म क्यों ?**

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि समता को धर्म क्यों माना जाए? जैन परम्परा के परवर्ती ग्रंथों में धर्म की व्याख्या 'वत्थु-सहावो धम्मो' के रूप में की गई है, अतः समता को तभी धर्म माना जा सकता है जबकि वह प्राणीय स्वभाव सिद्ध हो जाए, जरा इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें।

जैन दर्शन में मानव-प्रकृति एवं प्राणीय प्रकृति का गहन विश्लेषण किया गया है। महावीर से जब यह पूछा गया कि आत्मा क्या है ? अत्मा का साध्य या आदर्श क्या है ? तब महावीर ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था, वह

आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है। महावीर ने कहा था- आत्मा समत्वरूप है और समत्व ही आत्मा का साध्य है (आयाए सामाइए, आयासामाइस्स अट्टे-भगवतीसूत्र)। वस्तुतः, जहां भी जीवन है, चेतना है, वहां समत्व के संस्थापन के अनवरत प्रयास चल रहे हैं। परिवेशजन्य विषमताओं को दूर कर समत्व के लिए प्रयासशील बने- यह जीवन या चेतना का मूल स्वभाव है। शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर समत्व का संस्थापन ही जीवन का लक्षण है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में - 'जीव गतिशील संतुलन है', (जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. २५९)। स्पेंसर के अनुसार परिवेश में निहित तथ्य जीवन के संतुलन को भंग करते रहते हैं और जीवन अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुनः इस संतुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह संतुलन बनाने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है (फर्स्ट प्रिंसिपल्स-स्पेंसर, पृ. ६६)। विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के लिए संघर्ष कहा है, किंतु मेरी अपनी दृष्टि में इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहने की अपेक्षा समत्व के संस्थापन का प्रयास कहना ही अधिक उचित है। समत्व के संस्थापन एवं समायोजन की प्रक्रिया ही जीवन का महत्वपूर्ण लक्षण है।

इस प्रकार जैन दर्शन में समभाव या वीतराग-दशा को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना गया है। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरती है। संघर्ष नहीं, अपितु समत्व ही जीवन का आदर्श हो सकता है, क्योंकि यही हमारा स्वभाव है और जो स्व-स्वभाव है, वही आदर्श है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। स्पेन्सर, डार्विन एवं आर्म्स प्रभृति कुछ पाश्चात्य विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं, लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वभाव वह होता है, जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन के अनुसार नित्य और निरपवाद वस्तुधर्म ही स्वभाव है। यदि हम इसे कसौटी पर कसें, तो संघर्ष एवं तनाव जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य स्वभाव संघर्ष है, मानवीय इतिहास वर्ग संघर्ष की कहानी है। संघर्ष ही जीवन का नियम है, किंतु यह एक मिथ्या धारणा है। यदि संघर्ष ही जीवन का नियम है, तो फिर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है, संघर्ष मिटाने

के लिए होता है। जो मिटाने की, निराकरण करने की वस्तु है, क्या उसे स्वभाव कहा जा सकता है। संघर्ष यदि मानव इतिहास का एक तथ्य है, तो वह उसके दोषों का इतिहास है, इसके स्वभाव का इतिहास नहीं। मानव स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की साधना है, क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिए हो रहे हैं।

संघर्ष अथवा समत्व से विचलन जीवन में पाए जाते हैं, लेकिन वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि जीवन की प्रक्रिया उनको समाप्त करने की दिशा में ही प्रयासशील है। समता की उपलब्धि ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का साध्य है। कामना, आसक्ति, राग-द्वेष, वितर्क आदि सभी मानसिक असंतुलन एवं तनाव की अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं, अतः आचारांग में इन्हें अशुभ माना गया है। इसके विपरीत वासनाशून्य, वितर्क शून्य, निष्काम, अनासक्त, वीतराग अवस्था ही जीवन का आदर्श है, क्योंकि वह समत्व की स्थिति है। राग और द्वेष की वृत्तियां हमारे चेतन समत्व को भंग करती हैं, अतः उनसे ऊपर उठकर वीतरागता की अवस्था को प्राप्त कर लेना ही सच्चे समत्व की अवस्था है। वस्तुतः, समत्व की उपलब्धि आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान-दोनों की दृष्टि से मानव जीवन का साध्य मानी जा सकती हैं और जो जीवन का साध्य एवं स्वभाव हो, वही धर्म कहा जा सकता है। आचारांग स्पष्ट रूप से कहता है कि जो समता को जानता है, वही मुनि धर्म को जानता है।

### आचारांग में अहिंसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

आचारांग में अहिंसा के सिद्धांत को मनोवैज्ञानिक आधार पर ही स्थापित करने का प्रयास किया गया है। अहिंसा को अर्हत्-प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है।

सर्वप्रथम हमें विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जाए। सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है (सर्व्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुक्खपडिकूला- १/२/३), अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय

स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। यद्यपि मेकेंजी ने 'भय' को अहिंसा का आधार माना है, किंतु उसकी यह धारणा गलत है, क्योंकि भय के सिद्धांत को यदि अहिंसा का आधार बनाया जाएगा, तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। भय को आधार मानने पर तो जिससे भय होगा, उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी, जबकि आचारांग तो प्राणियों के प्रति, यहां तक कि वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात करता है, अतः आचारांग में अहिंसा को भय के आधार पर नहीं, अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्यों के आधार पर अधिष्ठित किया गया है। पुनः, अहिंसा को इन मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ-साथ तुल्यता बोध के बौद्धिक सिद्धांत पर खड़ा किया गया। वहां कहा गया है कि 'जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ --- एयं तुल्लमत्तेसिं' - १/१/७। जो अपनी पीड़ा को जान पाता है, वही तुल्यता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है। यह प्राणीय पीड़ा की तुल्यता बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा का आधार है। सूत्रकार तो अहिंसा के इस सिद्धांत को अधिक गहराई तक अधिष्ठित करने के प्रयास स्वरूप यहां तक कह देता है कि जिसे तू मारना चाहता है, पीड़ा देना चाहता है, सताना चाहता है, वह तू ही है (आचारांग, १/५/५)। आगे कहता है कि जो लोग (लोक) का अपलाप करता है, वह स्वयं अपनी आत्मा का अपलाप करता है (आचारांग, १/१/३)। यहां अहिंसा को अधिक गहन मनोवैज्ञानिक आधार देने के प्रयास में वह जैन दर्शन के आत्मा सम्बंधी अनेकात्मवाद के स्थान पर एकात्मवाद की बात करता सा प्रतीत होता है, क्योंकि यहां वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य को देख रहा है कि केवल आत्मभाव में हिंसा असम्भव हो सकती है। जब तक दूसरे के प्रति परबुद्धि है, परायेपन का भाव है, तब तक हिंसा की सम्भावनाएं उपस्थित हैं। व्यक्ति के लिए हिंसा तभी असम्भव हो सकती है, जब उसमें प्राणी जगत् के प्रति अपनत्व या आत्मीय दृष्टि जाग्रत हो। अहिंसा की स्थापना के लिए जो मनोवैज्ञानिक भूमिका अपेक्षित थी, उसे प्रस्तुत करने में सूत्रकार ने आत्मा की वैयक्तिकता की

धारणा का भी अतिक्रमण कर उसे अभेद की धारणा पर स्थापित करने का प्रयास किया है। हिंसा के निराकरण के प्रयास में भी सूत्रकार ने एक ओर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया है कि हिंसा से हिंसा या घृणा से घृणा का निराकरण सम्भव नहीं है। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है - शस्त्रों के आधार पर या भय और हिंसा के आधार पर शांति की स्थापना सम्भव नहीं है, क्योंकि एक शस्त्र का प्रतिकार दूसरे शस्त्र के द्वारा सम्भव है। शांति की स्थापना तो अहिंसा या प्रेम द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि अशस्त्र से बढ़कर कुछ अन्य नहीं है (आचारांग, १/३/४)।

### आचारांग में मानवीय व्यवहार के प्रेरक तत्त्व

सामान्यतया, राग और द्वेष- ये दो कर्मबीज माने गए हैं, किंतु इनमें भी राग ही प्रमुख तथ्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि आसक्ति ही कर्म का प्रेरक तथ्य है (१/३/२)। आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान- दोनों ही इस सम्बंध में एकमत हैं कि मानवीय व्यवहार का मूलभूत प्रेरक तत्त्व वासना या काम है, फिर भी आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान- दोनों में वासना के मूलभूत प्रकार कितने हैं, इस सम्बंध में कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में जहां फ्रायड काम या राग को ही एकमात्र मूल प्रेरक मानते हैं, वहीं दूसरे विचारकों ने मूलभूत प्रेरकों की संख्या सौ तक मानी है, फिर भी पाश्चात्य मनोविज्ञान में सामान्यतया निम्न १४ मूल प्रवृत्तियां मानी गई हैं-

१. पलायनवृत्ति (भय), २. घृणा, ३. जिज्ञासा, ४. आक्रामकता (क्रोध), ५. आत्मगौरव (मान), ६. आत्महीनता, ७. मातृत्व की संप्रेरणा, ८. समूह भावना, ९. संग्रहवृत्ति, १०. रचनात्मकता, ११. भोजनान्वेषण, १२. काम, १३. शरणागति और १४. हास्य (आमोद)। आचारांगसूत्र में भय, जिज्ञासा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, आत्मीयता, हास्य आदि का यत्र-तत्र बिखरा हुआ उल्लेख उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त, हिंसा के कारणों का निर्देश करते हुए कुछ कर्म प्रेरकों का उल्लेख उपलब्ध है, यथा- जीवन जीने के लिए, प्रशंसा और मान-सम्मान पाने के लिए, जन्म-मरण से

छुटकारा पाने के लिए तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की निवृत्ति हेतु प्राणी हिंस करता है (१/१/४)।

### आचारांग का सुखवादी दृष्टिकोण

आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह भी बताता है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिए होता है कि उसका जीवनशक्ति को बनाए रखने की दृष्टि से दैहिक मूल्य है और दुःख इसलिए प्रतिकूल होता है कि वह जीवन शक्ति का हास करता है। यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक है। आचारांग भी प्राणीय व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करता है (आचारांग १/२/३)। अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण- यह इंद्रिय स्वभाव है। अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति, प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति- यह एक नैसर्गिक तथ्य है, क्योंकि सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल होता है। वस्तुतः, प्राणी सुख को प्राप्त करना चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दुःख का रूप ले लेती है, जिससे वासना की पूर्ति हो, वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती हो, वह दुःख। इस प्रकार, वासना से ही सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का नियमन करने लगते हैं।

### दमन का प्रत्यय और आचारांग

सामान्यतया, आचारांग में इंद्रिय-संयम पर काफी बल दिया गया है। वह तो शरीर को सुखा डालने की बात भी कहता है, लेकिन प्रश्न यह है कि क्या पूर्ण इंद्रिय-निरोध सम्भव है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इंद्रिय व्यापारों का निरोध एक अस्वाभाविक तथ्य है। आंख के समक्ष जब उसका विषय प्रस्तुत होता है, तो उसके सौंदर्य दर्शन से वंचित नहीं रह सकती। भोजन करते समय स्वाद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः, यह विचारणीय प्रश्न है कि इंद्रिय दमन के सम्बंध में क्या आचारांग का दृष्टिकोण आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहमत है? आचारांग इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यही बात कहता है कि इंद्रिय व्यापारों के निरोध का अर्थ इंद्रियों को अपने विषयों से विमुख करना



नहीं, वरन् विषय सेवन के मूल में जो निहित राग-द्वेष हैं, उन्हें समाप्त करना है। इस सम्बंध में उसमें जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह विशेष रूप से दृष्टव्य है। उसमें कहा गया है कि यह शक्य नहीं कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएं, अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं कि आंखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाए, अतः रूप का नहीं, अपितु रूप के प्रति जाग्रत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि नासिका के समक्ष आई हुई सुगंध सूंघने में न आए, अतः गंध की नहीं, किंतु गंध के प्रति आने वाले राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए, अतः रस का नहीं, किंतु रस के प्रति जाग्रत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि शरीर से सम्पर्क होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, अतः स्पर्श नहीं, किंतु स्पर्श के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए (आचारांग २१/५/१०१-१०५)। उत्तराध्ययन में भी इसकी पुष्टि की गई है। उसमें कहा गया है कि इंद्रियों के मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए राग-द्वेष के कारण नहीं होते हैं। ये विषय रागी पुरुषों के लिए ही दुःख (बंधन) के कारण होते हैं, वीतरागियों के बंधन या दुःख का कारण नहीं हो सकते हैं। काम-भोग न किसी को बंधन में डालते हैं और न किसी को मुक्त ही कर सकते हैं, किंतु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है (उत्तराध्ययन ३२/१००-१०१)।

जैन दर्शन के अनुसार साधना का सच्चा मार्ग औपशमिक नहीं, वरन् क्षायिक है। औपशमिक मार्ग का अर्थ वासनाओं का दमन है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग औपशमिक मार्ग है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में यह दमन का मार्ग है, जबकि क्षायिक मार्ग वासनाओं के निरसन का मार्ग है। यह वासनाओं से ऊपर उठाता है। यह दमन नहीं, अपितु चित्त विशुद्धि है। दमन तो मानसिक गंदगी को ढकने मात्र में है और जैनदर्शन इस प्रकार के दमन को स्वीकार नहीं करता। जैन दार्शनिकों ने गुणस्थान प्रकरण में यह स्पष्ट रूप से बताया है कि वासनाओं

को दबाकर आने वाली साधना विकास की अग्रिम कक्षाओं से अनिवार्यतया पदच्युत हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक के समान ही दमन को साधना का सच्चा मार्ग नहीं मानता है, उसके अनुसार, साधना का सच्चा मार्ग वासनाओं का दमन नहीं, अपितु उनसे ऊपर उठ जाना है। वह इंद्रिय निग्रह नहीं, अपितु इंद्रिय अनुभूतियों में भी मन की वीतरागता या समत्व की अवस्था है।

अतः, यह स्पष्ट है कि आचारांगसूत्र अपनी विवेचनाओं में मनोवैज्ञानिक आधारों पर खड़ा हुआ है। उत्तम आचार के जो नियम-उपनियम बनाए गए हैं, वे भी उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं, किंतु यहां उन सबकी गहराइयों में जाना सम्भव नहीं है। यद्यपि इस सम्पूर्ण विवेचना का यह अर्थ भी नहीं है कि आचारांग में जो कुछ कहा गया है, वह सभी मनोवैज्ञानिक सत्यों पर आधारित है। अहिंसा, समता और अनासक्ति के जो आदर्श उसमें प्रस्तुत किए गए हैं, वे चाहे मनोवैज्ञानिक आधारों पर अधिष्ठित हों, किंतु उनकी जीवन में पूर्ण उपलब्धि की सम्भावनाओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही प्रश्नचिह्न भी लगाया जा सकता है। ये आदर्श के रूप में चाहे कितने ही सुहावने हों, किंतु मानव जीवन में इनकी व्यावहारिक सम्भावना कितनी है, यह विवाद का विषय बन सकता है, फिर भी मानवीय-दुर्बलता के आधार पर उनसे विमुख होना उचित नहीं होगा, क्योंकि इनके द्वारा ही न केवल मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होगा, अपितु लोकमंगल की भावना भी साकार बन सकेगी।

### आचारांग में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान

जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं कि आचारांग मूलतः दर्शन का ग्रंथ न होकर आचारशास्त्र का ग्रंथ है, फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि उसमें दर्शन के तत्त्वों का पूर्णतः अभाव है। आचारांग का प्रारम्भ ही एक पारिणामिक नित्य आत्मा की अवधारणा से होता है। आचारांग आत्मा और पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करके चलता है। वह कर्म की अवधारणा को भी स्वीकार करता है तथा यह मानता है कि कर्म ही बंधन के कारण हैं। यदि हम सूक्ष्मता से देखें, तो उसमें कर्म को पौद्गलिक मानकर कर्म शरीर का भी उल्लेख किया

गया है और साधक को कहा गया है कि वह कर्म शरीर का ही विधूनन करे। इस प्रकार, आचारांग में आश्रव, संवर और प्रकारान्तर से निर्जरा की व्यवस्थाएं भी उपलब्ध हो जाती हैं। आचारांग मुक्तात्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप की भी औपनिषदिक शैली में व्याख्या करता है।

अतः, हम यह कह सकते हैं कि संक्षेप में आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, बंधन, आश्रव, संवर, निर्जरा और मुक्ति- इन सब अवधारणाओं को चाहे संक्षेप में ही क्यों न सही, स्वीकार करके चलता है, फिर भी उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आचारांग, दर्शन के सम्बंध में केवल उन्हीं तथ्यों को रखना चाहता है, जो उसके आधार-शास्त्र की पूर्व मान्यता के लिए अपरिहार्य हैं। जैनधर्म का जो विकसित तत्त्वज्ञान है, उसका उसमें अभाव ही देखा जाता है, जीव और पुद्गल को छोड़कर आकाश, धर्म, अधर्म और काल की उसमें कोई स्वतंत्र व्याख्याएं नहीं हैं।

### आचारांग के आचार-नियम

जहां तक आचारांग में प्रतिपादित आचार-नियमों का प्रश्न है, मूलतः वे सभी नियम अहिंसा को केंद्र में रखकर बनाए गए हैं। आचारांग के आचार नियमों का केंद्रबिंदु अहिंसा का परिपालन ही है। जीवन में अहिंसा और अनासक्ति को किस चरम सीमा तक अपनाया जा सकता है, इसका आदर्श हमें आचारांग में देखने को मिल सकता है। आचारांग के दो श्रुतस्कंधों में जहां प्रथम श्रुतस्कंध आचार के सामान्य सिद्धांतों को प्रस्तुत करता है, वहां द्वितीय श्रुतस्कंध उसके व्यवहार पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। विद्वानों ने आचारांग के दूसरे श्रुतस्कंध को प्रथम श्रुतस्कंध की व्यावहारिक व्याख्या ही माना है। प्रथम श्रुतस्कंध में मूलतः अहिंसा, अनासक्ति तथा कषायों और वासनाओं के विजय का सूत्ररूप में संकेत किया गया है, जबकि दूसरे श्रुतस्कंध में इनसे अप्र उठकर, कैसा जीवन जिया जा सकता है, इसका चित्रण किया गया है। दूसरा श्रुतस्कंध, मूलतः मुनिजीवन में भोजन, वस्त्र, पात्र आदि सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार की जाए, इसका विस्तार से विवेचन करता है। इस श्रुतस्कंध का अंतिम भाग जहां एक ओर महावीर का जीवनवृत्त प्रस्तुत करता है, वहीं दूसरी ओर वह

इंद्रियविजय की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालता है। यद्यपि आचारांग का आचारपक्ष व्यावहारिक दृष्टि से कठोर कहा जा सकता है, किंतु उसमें साधना के जिस आदर्श स्वरूप का चित्रण है, उसके मूल्य को नकारा नहीं जा सकता।

## आचारांग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि

प्रस्तुत शोध-निबंध का उद्देश्य आचारांगसूत्र में वर्णित मनोवैज्ञानिक तथ्यों का आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना है। आचारांगसूत्र जैन आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रंथ है, जबकि विज्ञान की एक स्वतंत्र विधा के रूप में मनोविज्ञान का विकास अभी-अभी ही हुआ है। इस प्रकार, कालक्रम की दृष्टि से दोनों में लगभग दो सहस्राब्दियों का अंतर है। यह भी एक सत्य है कि आचारांगसूत्र मनोविज्ञान का ग्रंथ न होकर आचारशास्त्र का ग्रंथ है और इसलिए उसमें मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विवेचन उस रूप में तो उपलब्ध नहीं है, जिस रूप में वह एक मनोविज्ञान की पुस्तक में पाया जाता है, फिर भी उसमें आचार के सिद्धांतों और नियमों के लिए जिस मनोवैज्ञानिक आधारभूमि और मनोवैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया गया है, वह तुलनात्मक अध्ययन के लिए गवेषणीय है।

आचारांगसूत्र मुख्यतः श्रमण आचार के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करता है। चूंकि मानवीय आचार मन और बुद्धि से निकट रूप से जुड़ा हुआ है, अतः यह स्वाभाविक है कि आचार के सम्बंध में कोई भी प्रामाणिक चिंतन मनोवैज्ञानिक सत्यों को नकार कर आगे नहीं बढ़ सकता है। हमें क्या होना चाहिए- यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम क्या हैं? और क्या हो सकते हैं? हमारी क्षमताएं एवं सम्भावनाएं क्या हैं? आचरण के किसी साध्य और सिद्धांत का निर्धारण साधक की मनोवैज्ञानिक प्रकृति को समझे बिना सम्भव नहीं है। प्रस्तुत निबंध में हमें यह देखना है कि आचारांगसूत्र में आचार

के सिद्धांत एवं नियमों के प्रतिपादन में किस सीमा तक मनोवैज्ञानिक दृष्टि सन्निहित है।

### आचारांग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि

आचारांगसूत्र के उत्थान में ही हमें उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिल जाता है। सूत्र का प्रारम्भ ही अस्तित्व सम्बंधी मानवीय जिज्ञासा से होता है। पहला ही प्रश्न है-

अत्थि में आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए,  
के अहं आसी, के वा इओ चुओ पेच्चा भविस्सामि ।

(१/१/१/३)

इस जीवन के पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं, अथवा इस जीवन के पश्चात् मेरी सत्ता बनी रहेगी या नहीं? मैं क्या था और मृत्यु के उपरांत किस रूप में होऊंगा? यही अपने अस्तित्व का प्रश्न मानवीय जिज्ञासा और मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न है, जिसे सूत्रकार ने सर्वप्रथम उठाया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के लिए मूलभूत प्रश्न अपने अस्तित्व या सत्ता का ही है। धार्मिक एवं नैतिक चेतना का विकास भी इसी अस्तित्व-बोध या स्वरूप-बोध पर आधारित है। मनुष्य की जीवन-दृष्टि क्या और कैसी होगी? यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि अपने अस्तित्व, अपनी सत्ता और अपने स्वभाव के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है? पाप और पुण्य अथवा धर्म और अधर्म की सारी मान्यताएं अस्तित्व की धारणा पर ही खड़ी हुई हैं, इसीलिए सूत्रकार ने कहा है कि जो इस 'अस्तित्व' या स्व-सत्ता को जान लेता है, वही आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है और क्रियावादी है। (से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी-१/१/१/३) व्यक्ति के लिए मूलभूत और सारभूत तत्त्व उसका अपना अस्तित्व ही है और सत्ता या अस्तित्व के इस मूलभूत प्रश्न को उठाकर ग्रंथकार ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक में भी जिजीविषा और जिज्ञासा को मानव की मूल प्रवृत्तियां माना गया है। मानवीय जिज्ञासावृत्ति को महत्त्व देते हुए तो यहां तक कहा गया है कि संसयं परिजाणतो संसारे परिणणते- (५/१/१४९), अर्थात् संशय के ज्ञान से ही संसार का ज्ञान है। आज समस्त वैज्ञानिक ज्ञान के विकास में संशय (जिज्ञासा) की पद्धति को आवश्यक माना गया है। संशय की पद्धति को आज एक वैज्ञानिक

पद्धति के रूप में मान्यता प्राप्त है। ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति का यही एकमात्र मार्ग है, जिसे सूत्रकार ने पूरी तरह समझा है।

### आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण

आत्मा के स्वरूप या स्वभाव का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कहा है- जे आता से विन्नाता, जे विन्नाता से आता। जेण विजाणति से आता। तं पडुच्च पडिसंखाये। - (१/५/५/१७१)। इस प्रकार, वह ज्ञान को आत्म-स्वभाव या आत्म-स्वरूप बताता है। जहां आधुनिक मनोविज्ञान चेतना के ज्ञान, अनुभूति और संकल्प- ऐसे तीन लक्षण बताता है, वहीं आचारांगसूत्र आत्मा के ज्ञान लक्षण पर बल देता है। स्थूल-दृष्टि से देखने पर यही दोनों में अंतर प्रतीत होता है, किंतु अनुभूति (वेदना) और संकल्प- यह दोनों लक्षण शरीराश्रित बद्धात्मा के हैं, अतः शुद्ध आत्मा का लक्षण तो मात्र ज्ञान है, पुनः, अनुभूति और संकल्प ज्ञानप्रसूत हैं, अतः ज्ञान ही प्रथम लक्षण सिद्ध होता है। वैसे आचारांगसूत्र में और परवर्ती जैन ग्रंथों में भी मनोविज्ञानसम्मत इन तीनों लक्षणों को देखा जा सकता है, फिर भी आचारांगसूत्र में आत्मा के विज्ञाता स्वरूप पर बल देने का एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक कारण है, क्योंकि आत्मा की अनुभूत्यात्मक एवं संकल्पात्मक अवस्था में पूर्णतः समभाव या समाधि की उपलब्धि सम्भव नहीं है, जब तत्काल सुख दुःखात्मक वेदना की अनुभूति है, या संकल्प-विकल्पचक्र चल रहा है, आत्मा परभाव में स्थित होती है, चित्त में समाधि नहीं रहती है। आत्मा का स्वरूप या स्वभाव-धर्म तो समता है, जो केवल उसके ज्ञाता-द्रष्टा रूप में स्वरूपतः उपलब्ध होती है। वेदक और कर्ता रूप में वह स्वरूप उपलब्ध नहीं है, प्रयास साध्य है।

### मन का ज्ञान साधना का प्रथम चरण

निर्ग्रन्थ साधक के लक्षणों का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहता है- जे मणं परिजाणति से णिगंथे जे य मण अपावए- २/१५/७७८ जो मन को जानता है और उसे अपवित्र नहीं होने देता है, वही निर्ग्रन्थ है। इस प्रकार, निर्ग्रन्थ श्रमण की साधना का प्रथम चरण है- मन को जानना और दूसरा चरण है- मन को अपवित्र नहीं होने देना। मन की शुद्धि भी स्वयं मनोवृत्तियों के ज्ञान पर निर्भर है। मन को जानने का मतलब है- अंदर झांककर अपनी मनोवृत्तियों को



पहचानना, मन की ग्रंथियों को खोजना, यही साधना का प्रथम चरण है। बीमारी का ज्ञान या बीमारी का निदान, बीमारी से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण-विधि में भी मनोग्रंथियों से मुक्त होने के लिए उनका जानना आवश्यक माना गया है। अन्तर्दर्शन जहां आधुनिक मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण विधि मानी गई है, वहीं उसे निर्ग्रन्थ साधना का प्रथम चरण बताया गया है। वस्तुतः, आचारांगसूत्र की साधना अप्रमत्तता की साधना है और यह अप्रमत्तता अपनी चित्तवृत्तियों के प्रति सतत जागरूकता है। चित्तवृत्तियों का दर्शन ही सम्यक्-दर्शन है, स्व-स्वभाव में रमण है। आधुनिक मनोविज्ञान जिस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए मनोग्रंथियों के तोड़ने की बात कहता है, उसी प्रकार जैनदर्शन भी आत्मशुद्धि के लिए ग्रंथि-भेद की बात कहता है। ग्रन्थि, ग्रन्थि-भेद और निर्ग्रन्थ शब्द के प्रयोग स्वयं आचारांगसूत्र की मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं। वस्तुतः, ग्रन्थियों से मुक्ति ही साधना का लक्ष्य है (गंथेहिं विवत्तेहिं आयुकालस्सपारए १/८/८/२७) जो ग्रन्थियों से रहित है, वही निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ होने का अर्थ है- राग-द्वेष या आसक्तिरूपी गांठ का खुल जाना। जीवन में अंदर और बाहर से एकमय हो जाना, मुखौटा की जिंदगी से दूर हो जाना, क्योंकि ग्रन्थि का निर्माण होता है-रागभाव से, आसक्ति से। इस प्रकार, आचारांगसूत्र एक मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रस्तुत करता है। आचारांगसूत्र के अनुसार बंधन और मुक्ति के तत्त्व बाहरी नहीं, आंतरिक हैं। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि बंधप्पमोक्खो तुज्झंज्झत्थेव- १/५/२/१५५, बंधन और मोक्ष हमारे अध्यवसायी किंवा मनोवृत्तियों पर निर्भर हैं। मानसिक बंधन ही वास्तविक बंधन है। वे गांठें, जिन्होंने हमें बांध रखा है, वे हमारे मन की ही गांठें हैं। वह स्पष्ट उद्घोषणा करता है कि कामेसु गिद्धा णिचयंकरेति -१/३/२/११३, कामभोगों के प्रति आसक्ति से ही बंधन की सृष्टि होती है। वह गांठ, जो हमें बांधती है- आसक्ति की गांठ है, ममत्व की गांठ है, अज्ञान की गांठ है। इस आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हिंसा व्यक्ति की और संसार की सारी पीड़ाओं का मूल स्रोत है, यही जीवन में नरक की सृष्टि करती है, जीवन को नारकीय बनाती है। (एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए- १/१/२/१५) आचारांगसूत्र के अनुसार विषयभोग के प्रति जो आतुरता है, वही समस्त पीड़ाओं की जननी है। आतुरा परितावेति १/१/२/११)। यहां हमें स्पष्ट रूप से विश्व की समस्त पीड़ाओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त

होता है। सूत्रकार स्पष्ट रूप से कहता है कि आसं च छंदं च विगिंच धीरे। तुमं चेव तं सल्लंमाहट्ट। (१/२/४/८३)। हे धीर पुरुष! विषय भोगों की आकांक्षा और तत्सम्बन्धी संकल्प-विकल्पों का परित्याग करो। स्वयं इस कांटे को अपने अन्तःकरण में रखकर दुःखी हो रहे हो। इस प्रकार आचारांगसूत्र बंधन, पीड़ा या दुःख के प्रति एक आत्मनिष्ठ एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि जे आसवा, ते परिस्सवा, जे परिस्सवा, ते आसवा (१/४/२/१३४), अर्थात् बाहर में जो बंधन के निमित्त हैं, वे कभी मुक्ति के निमित्त बन जाते हैं और जो मुक्ति के निमित्त हैं, वे ही कभी बंधन के निमित्त बन जाते हैं। इसका आशय यही है कि बंधन और मुक्ति का सारा खेल साधक के अंतरंग भावों पर आधारित है। यदि इसी प्रश्न पर हम आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें, तो यह पाते हैं कि आकांक्षाओं का उच्च स्तर ही मन में कुण्ठाओं को उत्पन्न करता है और उन कुण्ठाओं के कारण मनोगन्थियों की रचना होती है, जो अन्ततोगत्वा व्यक्ति में मनोविकृतियां उत्पन्न करती हैं।

### मन के पवित्रीकरण की मनोवैज्ञानिक विधि

पुनः, मन को अपवित्र नहीं होने देने के लिए भी मन की वृत्तियों को देखना जरूरी है, क्योंकि यह मन को दुष्प्रवृत्तियों से बचाने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार, मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्ता की दो भूमिकाओं का निर्वाह नहीं कर सकता है, इसलिए कहा गया अप्पमत्तो कामेहिं उवरतो पावकम्मेहिं (१/२/१/१०९), सव्वतो पमत्तस्य भयं सव्वतो अप्पमत्तस्स णत्थि भयं (१/३/१/१२९), जो अप्रमत्त है, वह कामनाओं से और पापकर्मों से उपरत है, प्रमत्त को ही विषय-विकार में फंसने का भय है, अप्रमत्त को नहीं। अप्रमत्तता या सम्यक् द्रष्टा की अवस्था में पापकर्म बंध नहीं होता है, इसीलिए कहा गया- सम्मत्तदंसी न करेति पावं (१/३/२/११२), सम्यक् -द्रष्टा कोई पाप नहीं करता है। आचारांगसूत्र में मन को जानने अथवा अप्रमत्त चेतना की जो बात बार-बार कही गई है, वह मन को वासनामुक्त करने का या मन के पवित्रीकरण का एक ऐसा उपाय है, जिसकी प्रामाणिकता आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है। जब साधक अप्रमत्त चेतना से मुक्त होकर द्रष्टाभाव में स्थित होता है, तब सारी वासनाएं और सारे आवेग स्वतः शिथिल हो जाते हैं। इसी प्रकार, अन्यत्र यह कहकर भी 'आयंक दंसी न

करेह पावं' पुनः एक मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया गया है, जो अपनी पीड़ा या वेदना को देख लेता है, समझ लेता है, उसके लिए भी पापकर्म में फँसना एक मनोवैज्ञानिक असम्भावना बन जाती है। जब व्यक्ति पापकर्म या हिंसाजनित पीड़ा का स्वयं आत्मनिष्ठ रूप में अनुभव करता है, हिंसा करना उसके लिए असम्भव हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार पाप से विरत होने के लिए मनोवैज्ञानिक सत्यों पर अधिष्ठित पद्धति प्रस्तुत करता है।

### धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

आचारांगसूत्र में धर्म क्या है? इसके दो निर्देश हमें उपलब्ध होते हैं? प्रथम श्रुतस्कंध के चतुर्थ अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में अहिंसा को शाश्वत, नित्य और शुद्ध धर्म कहा गया है (सर्वे पाणा सर्वेभूता सर्वे जीवा सर्वे सत्ता न हंतव्वा- एस धम्मे सुद्धे, नितिए, सासए, समेच्च लोयं खेतण्णेहिं पवेदिति(१/४/१/१३२) और प्रथम श्रुतस्कंध के आठवें अध्याय के तीसरे उद्देशक में समता को धर्म कहा गया है समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिति- १/८/३। वस्तुतः, धर्म की ये दो व्याख्याएं दो दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अहिंसा व्यावहारिक व समाज सापेक्ष धर्म है, जबकि वैयक्तिक एवं आंतरिक दृष्टि से समभाव ही धर्म है। सैद्धांतिक दृष्टि से अहिंसा और समभाव में अभेद है, किंतु व्यावहारिक दृष्टि से वे अलग हैं। समभाव की बाह्य अभिव्यक्ति अहिंसा बन जाती है और यही अहिंसा जब स्वकेन्द्रित (स्व-दया) होती है, तो समभाव बन जाती है।

### समत्व या समता धर्म क्यों?

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि समता को धर्म क्यों माना जाए? जैन परम्परा में धर्म की व्याख्या वस्तु सहायो धम्मो के रूप में की गई है, अतः समता तभी धर्म माना जा सकता है, जबकि वह प्राणीय स्वभाव सिद्ध हो। आइए, जरा इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें।

जैन दर्शन में मानव प्रकृति एवं प्राणी प्रकृति का गहन विश्लेषण किया गया है। महावीर से जब यह पूछा गया कि आत्मा क्या है? और आत्मा का साध्य या आदर्श क्या है? तब महावीर ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था, वह आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है। महावीर ने कहा था, आत्मा समत्वरूप है और

समत्व ही आत्मा का साध्य है। (आयाए समाइए आया समाइस्स अट्टे-भगवतीसूत्र) वस्तुतः, जहां-जहां भी जीवन है, चेतना है, वहां-वहां समत्व संस्थापन के अनवरत प्रयास चल रहे हैं। परिवेशजन्य विषमताओं को दूर कर समत्व के लिए प्रयासशील बने रहना- यह जीवन या चेतना का मूल स्वभाव है। शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर समत्व का संस्थापन ही जीवन का लक्षण है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में, जीवन गतिशील संतुलन है (जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. २५९)। स्पेन्सर के अनुसार, परिवेश में निहित तथ्य जीवन के संतुलन को भंग करते रहते हैं और जीवन अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुनः इस संतुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह संतुलन बनाने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है (फर्स्ट प्रिन्सपल-स्पेन्सर, पृ. ६६)। विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के लिए संघर्ष कहा है, किंतु मेरी अपनी दृष्टि में इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहने की अपेक्षा समत्व के संस्थापन का प्रयास कहना ही अधिक उचित है। समत्व के संस्थापन एवं समायोजन की प्रक्रिया ही जीवन का महत्त्वपूर्ण लक्षण है। आचारांगसूत्र के अनुसार चेतना न तो जन्म है और न मृत्यु। चेतना इन दोनों से ऊपर है, जन्म और मृत्यु तो एक शरीर में उसके आगमन और ले जाने की सूचनाएं भर हैं, वह इनसे अप्रभावित है। सच्चा चेतन जीवन तो अप्रमत्त दशा, समभाव में अवस्थिति है। आचारांगसूत्र में ही इसे स्वरूप में रमण कहा गया है।

हमारी साधना का लक्ष्य क्या है? यह प्रश्न मनोविज्ञान और नैतिक दर्शन- दोनों की ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जैन दर्शन में इसे मोक्ष कहकर अभिव्याप्त किया गया है, किंतु यदि हम जैन दर्शन के मोक्ष का विश्लेषण करें, तो मोक्ष वीतरागता की अवस्था है और वीतरागता चेतना के पूर्ण समत्व की अवस्था है। इस प्रकार, जैन दर्शन में समता या समत्व को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना गया है। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरती है। संघर्ष नहीं, अपितु समत्व ही सामाजिक जीवन का आदर्श हो सकता है, क्योंकि यही हमारा स्वभाव है और जो स्व-स्वभाव है, वही आदर्श है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। स्पेन्सर, डार्विन एवं मार्क्स प्रभृति कुछ पाश्चात्य विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं, लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वभाव वह होता है, जिसका निराकरण नहीं किया जाता। जैन दर्शन के अनुसार नित्य और निरपवाद वस्तुधर्म ही स्वभाव है। यदि

हम इस कसौटी पर कसें, तो संघर्ष एवं तनाव जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य का स्वभाव संघर्ष है, मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है। संघर्ष ही जीवन का नियम है, किंतु यह एक मिथ्या धारणा है। यदि संघर्ष ही जीवन का नियम है, तो फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है? संघर्ष मिटाने के लिए होता है, जो मिटाने की, निराकरण करने की वस्तु है, क्या उसे स्वभाव कहा जा सकता है? संघर्ष यदि मानव इतिहास का एक तथ्य है, तो वह उसके दोषों का इतिहास है, उसके स्वभाव का इतिहास नहीं। मानव स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की साधना है, क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिए हो रहे हैं।

संघर्ष अथवा समत्व से विचलन जीवन में पाए जाते हैं, लेकिन वे जीवन के स्वभाव नहीं, क्योंकि जीवन की प्रक्रिया उनके समाप्त करने की दिशा में ही प्रयासशील है। समता की उपलब्धि ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का साध्य है। कामना, आसक्ति, राग-द्वेष, वितर्क आदि सभी मानसिक असंतुलन एवं तनाव की अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं, अतः आचारांगसूत्र में इन्हें अशुभ माना गया है। इसके विपरीत, वासनाशून्य, निष्काम, अनासक्त और वीतराग अवस्था ही जीवन का आदर्श है, क्योंकि वह समत्व की स्थिति है। राग और द्वेष की वृत्तियां हमारे चेतन समत्व को भंग करती हैं, अतः उनसे ऊपर उठकर वीतरागता की अवस्था को प्राप्त कर लेना ही सच्चे समत्व की अवस्था है। वस्तुतः, समत्व की उपलब्धि को आचारांगसूत्र और आधुनिक मनोविज्ञान-दोनों की दृष्टि से मानव जीवन का साध्य माना जा सकता है, अतः जो जीवन का साध्य एवं स्वभाव हो वही धर्म कहा जा सकता है। आचारांगसूत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि जो समता को जानता है, वही मुनि धर्म को जानता है।

### आचारांगसूत्र में अहिंसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

आचारांगसूत्र में अहिंसा के सिद्धांत को मनोवैज्ञानिक आधार पर ही स्थापित करने का प्रयास किया गया है। अहिंसा को आर्हत प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है।

सर्वप्रथम हमें यह विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जाए। सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है, वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख



प्रतिकूल है (सर्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला, १/२/३/ ७८) अहिंसा-का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। यद्यपि मैकेंजी ने अहिंसा का आधार 'भय' को माना है, किंतु उसकी यह धारणा गलत है, क्योंकि भय के सिद्धांत को यदि अहिंसा का आधार बनाया जाएगा, तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। भय को आधार मानने पर तो जिससे भय होगा, उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी, जबकि आचारांग तो प्राणियों के प्रति ही नहीं, अपितु वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात करता है, अतः आचारांगसूत्र में अहिंसा को भय के आधार पर नहीं, अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्यों के आधार पर अधिष्ठित किया गया है। पुनः, अहिंसा के इस मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ तुल्यता बोध को बौद्धिक सिद्धांत पर खड़ा किया गया। वहां कहा गया है कि जे अज्झत्थं जाणति से बहिया जाणति। एयं तुल्लमण्णेसिं (१/१/७/५६), जो अपनी पीड़ा को जान पाता है, वही तुल्यता-बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ-सकता। यह प्राणी-पीड़ा का तुल्यता-बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा का आधार है। सूत्रकार तो अहिंसा के इस सिद्धांत को अधिक गहराई तक अधिष्ठित करने के प्रयास में यहां तक कह देता है कि जिसे तू मारना चाहता है, पीड़ा देना चाहता है, सताना चाहता है, वह तू ही है (आचारांगसूत्र १/५/५)। आगे वह यहां तक कह देता है कि जो लोक का अपलाप करता है, वह स्वयं अपनी आत्मा का अपलाप करता है (आचारांगसूत्र १/१/२)। यहां अहिंसा को अधिक गहन मनोवैज्ञानिक आधार देने के प्रयास में वह जैन-दर्शन के आत्मा सम्बंधी अनेकात्मवाद के स्थान पर एकात्मवाद की बात करता प्रतीत होता है, क्योंकि यहां वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य को देख रहा है कि केवल आत्मभाव में हिंसा असम्भव हो सकती है। जब तक दूसरे के प्रति पर-बुद्धि है, परायेपन का भाव है, तब तक हिंसा की सम्भावनाएं उपस्थित हैं। व्यक्ति के लिए हिंसा तभी असम्भव हो सकती है, जब उसमें प्राणी जगत् के प्रति अपनत्व या आत्मीय दृष्टि जाग्रत हो। अहिंसा की स्थापना के लिए जो मनोवैज्ञानिक भूमिका अपेक्षित थी, उसे प्रस्तुत करने में सूत्रकार ने आत्मा की

वैयक्तिकता की धारणा का भी अतिक्रमण कर उसे अभेद की धारणा पर स्थापित करने का प्रयास किया है। हिंसा के निराकरण के प्रयास में भी सूत्रकार ने एक ओर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया है कि हिंसा से हिंसा या घृणा से घृणा का निराकरण सम्भव नहीं है। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है कि शस्त्रों के आधार पर या भय और हिंसा के आधार पर शांति की स्थापना सम्भव नहीं है, क्योंकि एक शस्त्र का प्रतिकार दूसरे शस्त्र के द्वारा सम्भव है। शांति की स्थापना तो निर्वैरता या प्रेम द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि अशस्त्र से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। (आचारांगसूत्र १/३/३)

**आचारांगसूत्र में मानवीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व**

सामान्यतया, राग और द्वेष- यह दो कर्मबीज माने गए हैं, किंतु इनमें भी राग ही प्रमुख तथ्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि आसक्ति ही कर्म का प्रेरक तथ्य है (१/३/२)। आचारांगसूत्र और आधुनिक मनोविज्ञान- दोनों ही इस सम्बंध में एकमत हैं कि मानवीय व्यवहार का मूलभूत प्रेरक तत्त्व वासना या काम है, फिर भी आचारांगसूत्र और आधुनिक मनोविज्ञान- दोनों में वासना के मूलभूत प्रकार कितने हैं, इस सम्बंध में कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में जहां फ्रायड काम या राग को ही एकमात्र मूल प्रेरक मानते हैं, वहीं दूसरे विचारकों ने मूलभूत प्रेरकों की संख्या सौ तक मान ली है, फिर भी पाश्चात्य मनोविज्ञान में सामान्यतया चौदह निम्न मूल प्रवृत्तियां मानी गई हैं- १. पलायनवृत्ति (भय), २. घृणा, ३. जिज्ञासा, ४. आक्रामकता (क्रोध), ५. आत्मगौरव (मान), ६. आत्महीनता, ७. मातृत्व की संप्रेरणा, ८. समूह भावना, ९. संग्रहवृत्ति, १०. रचनात्मकता, ११. भोजनान्वेषण, १२. काम, १३. शरणागति और १४. हास्य (आमोद)। आचारांगसूत्र में भय, द्वेष, जिज्ञासा, क्रोध, मान, माया, लोभ, आत्मीयता, हास्य आदि का यत्र-तत्र बिखरा हुआ उल्लेख उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त, हिंसा के कारणों को निर्देश करते हुए कुछ कर्मप्रेरकों का उल्लेख है, यथा- जीवन जीने के लिए, प्रशंसा और मान-सम्मान पाने के लिए, जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए, शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की निवृत्ति हेतु प्राणी हिंसा करता है (१/१/४/३७)।

**आचारांगसूत्र का सुखवादी दृष्टिकोण**

आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिए

होता है कि उसका जीवन-शक्ति को बनाए रखने की दृष्टि से दैहिक मूल्य है और दुःख इसलिए प्रतिकूल होता है कि वह जीवन-शक्ति का हास करता है। यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक है। आचारांगसूत्र भी प्राणीय व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करता है। (आचारांगसूत्र १/२/३/८१)। अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण- यह इन्द्रिय स्वभाव है। अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति, प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति- यह एक नैसर्गिक तथ्य है, क्योंकि सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल होता है, इसलिए प्राणी सुख को प्राप्त करना चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। वस्तुतः, वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दुःख का रूप ले लेती है। जिससे वासना की पूर्ति हो, वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासनापूर्ति में बाधा उत्पन्न हो, वह दुःख। इस प्रकार, वासना से ही सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का नियमन करने लगते हैं।

### दमन का प्रत्यय और आचारांगसूत्र

सामान्यतया, आचारांगसूत्र में इंद्रिय-संयम पर काफी बल दिया गया है, वह तो शरीर को सुखा देने की बात भी कहता है, लेकिन प्रश्न यह है कि क्या पूर्ण इंद्रिय-निरोध सम्भव है? आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इंद्रिय व्यापारों का निरोध एक अस्वाभाविक तथ्य है। आंख के समक्ष जब उसका विषय प्रस्तुत होता है, तो वह उसके सौंदर्य दर्शन से वंचित नहीं रह सकती। भोजन करते समय स्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः, यह विचारणीय प्रश्न है कि इंद्रिय-दमन के सम्बंध में क्या आचारांगसूत्र का दृष्टिकोण आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहमत है? आचारांगसूत्र इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यही कहता है कि इंद्रिय व्यापारों के निरोध का अर्थ इंद्रियों को अपने विषयों से विमुख करना नहीं, वरन् विषय सेवन के मूल में जो निहित राग-द्वेष हैं, उसे समाप्त करना है। इस सम्बंध में उसमें जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उसमें कहा गया है कि यह शक्य नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएं, अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि आंखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाए, अतः रूप का नहीं, अपितु रूप के प्रति

जाग्रत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं कि नासिका के समक्ष आया हुआ सुगंध सूंघने में न आए, अतः गंध का नहीं, किंतु गंध के प्रति जगने वाली राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए, अतः रस का नहीं, किंतु रस के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि शरीर से सम्पर्क होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, अतः स्पर्श का नहीं, किंतु स्पर्श के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए (आचारांगसूत्र २/३/१५/१०१-१०५)। उत्तराध्ययन में भी इसकी पुष्टि की गई है। उसमें कहा गया है कि इंद्रियों के मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए राग-द्वेष का कारण नहीं होते हैं। ये विषय रागी पुरुषों के लिए ही दुःख (बंधन) के कारण होते हैं, वीतरागियों के बंधन या दुःख के कारण नहीं हो सकते हैं। काम भोग न किसी को बंधन में डालते हैं और न किसी को मुक्त ही कर सकते हैं, किंतु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है (उत्तराध्ययनसूत्र ३२/१००-१०१)।

जैन दर्शन के अनुसार साधना का सच्चा मार्ग औपशमिक नहीं, वरन् क्षायिक है। औपशमिक मार्ग का अर्थ वासनाओं का दर्शन है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग औपशमिक मार्ग है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में यह दमन का मार्ग है, जबकि क्षायिक मार्ग वासनाओं के निरसन का मार्ग है, वह वासनाओं से ऊपर उठाता है। यह दमन नहीं, अपितु चित्त विशुद्धि है। दमन तो मानसिक गंदगी को ढकना मात्र है और जैन दर्शन इस प्रकार के दमन को स्वीकार नहीं करता। जैन दार्शनिकों ने गुणस्थान प्रकरण में स्पष्ट रूप से यह बताया कि वासनाओं को दबाकर आगे बढ़ने वाला साधक विकास की अग्रिम कक्षाओं से अनिवार्यतया पदच्युत हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन भी आधुनिक मनोविज्ञान के समान ही दमन को साधना का सच्चा मार्ग नहीं मानता है। उसके अनुसार, साधना का सच्चा मार्ग वासनाओं का दमन नहीं, अपितु उनके ऊपर उठ जाना है, वह इंद्रिय निग्रह नहीं, अपितु ऐन्द्रिय अनुभूतियों में भी मन की वीतरागता या समत्व की अवस्था है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचारांगसूत्र अपनी विवेचनाओं में मनोवैज्ञानिक आधारों पर खड़ा हुआ है। उत्तर आचार के जो उपनियम बनाए गए हैं, वे भी उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं, किंतु यहां उन सबकी

गहराइयों में जाना सम्भव नहीं है। किसी अन्य लेख में उनकी चर्चा करेंगे, यद्यपि इस सम्पूर्ण विवेचना का यह अर्थ भी नहीं है कि आचारांगसूत्र में जो कुछ कहा गया है, वह सभी मनोवैज्ञानिक सत्त्यों पर आधारित है। अहिंसा, समता और अनासक्ति के जो आदर्श उसमें प्रस्तुत किए हैं, वे चाहे मनोवैज्ञानिक आधारों पर अधिष्ठित हों, किंतु जीवन में उनकी पूर्ण उपलब्धता की सम्भावनाओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है। ये आदर्श के रूप में चाहे कितने ही सुहावने हों, किंतु मानव जीवन में इनकी व्यावहारिक सम्भावना कितनी है, यह विवाद का विषय बन सकता है।

### रामपुत्र या रामगुप्त : सूत्रकृतांग के संदर्भ में ?

सूत्रकृतांग के तृतीय अध्ययन में कुछ महापुरुषों के नामों का उल्लेख पाया जाता है। उनमें रामगुप्त (रामपुत्र) का भी नाम आता है।<sup>१</sup> डॉ. भागचंद्र जैन 'भास्कर' ने 'सम एथिकल एस्पेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म एज डिपिकटेड इन सूत्रकृतांग' नामक अपने निबंध में सूत्रकृतांग में उल्लिखित रामगुप्त की पहचान समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में की है।<sup>२</sup> समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त ने चंद्रप्रभ, पुष्पदन्त एवं पद्मप्रभ की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करवाई थीं, इस तथ्य की पुष्टि विदिशा के पुरातात्विक संग्रहालय में उपलब्ध इन तीर्थकरों की मूर्तियों से होती है।<sup>३</sup> इससे यह भी सिद्ध होता है कि रामगुप्त एक जैन नरेश था, जिसकी हत्या उसके ही अनुज चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने कर दी थी, किंतु सूत्रकृतांग में उल्लिखित रामगुप्त की पहचान गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त से करने पर हमारे सामने अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। सबसे प्रमुख प्रश्न तो यह है कि इस आधार पर सूत्रकृतांग की रचना-तिथि ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं पांचवीं शती के पूर्वार्द्ध तक चली जाती है, जबकि भाषा, शैली एवं विषयवस्तु-सभी आधारों पर सूत्रकृतांग ईसा पूर्व की रचना सिद्ध होता है।<sup>४</sup>

सूत्रकृतांग में उल्लिखित रामगुप्त की पहचान समुद्रगुप्त के पुत्र से करने

पर या तो हमें सूत्रकृतांग को परवर्ती रचना मानना होगा अथवा फिर यह स्वीकार करना होगा कि सूत्रकृतांग में उल्लिखित रामगुप्त समुद्रगुप्त का पुत्र रामगुप्त न होकर कोई अन्य रामगुप्त है। हमारी दृष्टि में यह दूसरा विकल्प ही अधिक युक्तिसंगत है। इस बात के भी यथेष्ट प्रमाण हैं कि उक्त रामगुप्त की पहचान इसिभासियाइं के रामपुत्त अथवा पालि साहित्य के उदकरामपुत्त से की जा सकती है, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे।

सर्वप्रथम हमें सूत्रकृतांग में जिस प्रसंग में रामगुप्त का नाम आया है, उस संदर्भ पर भी थोड़ा विचार कर लेना होगा। सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, तारायण (नारायण), असितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि ऋषियों की चर्चा के प्रसंग में ही रामगुप्त का नाम आया है। “ इन गाथाओं में यह बताया गया है कि नमि ने आहार का परित्याग करके, रामगुप्त ने आहार करके, बाहुक और नारायण ऋषि ने सचित्त जल का उपभोग करते हुए तथा देवल, द्वैपायन एवं पाराशर ने वनस्पति एवं बीजों का उपभोग करते हुए मुक्तिलाभ प्राप्त किया, साथ ही यहां इन सबको पूर्वमहापुरुष एवं लोकसम्मत भी बताया गया है। वस्तुतः, यह समग्र उल्लेख उन लोगों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जो इन महापुरुषों का उदाहरण देकर अपने शिथिलाचार की पुष्टि करना चाहते हैं। इस संदर्भ में ‘इह सम्मता’ शब्द विशेष दृष्टव्य है।

यदि हम ‘इह सम्मता’ का अर्थ- जिन प्रवचन या अर्हत् प्रवचन में सम्मत - ऐसा करते हैं, तो हमें यह भी देखना होगा कि अर्हत् प्रवचन में इनका कहां उल्लेख है और किस नाम से उल्लेख है ? इसिभासियाइं में इनमें से अधिकांश का उल्लेख है, किंतु हम देखते हैं कि वहां रामगुप्त न होकर रामपुत्त शब्द है।<sup>१०</sup> इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्रकृतांग में उल्लिखित रामगुत्त समुद्रगुप्त का पुत्र न होकर रामपुत्त नामक कोई अर्हत् ऋषि था। यहां यह भी प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठाया जा सकता है कि यह रामपुत्त कौन था ? पालि साहित्य में हमें रामपुत्त का उल्लेख उपलब्ध होता है, उसका पूरा नाम ‘उदाकरामपुत्त’ है। महावस्तु एवं दिव्यावदान में उसे उद्रक कहा गया है। अंगुत्तरनिकाय के वस्सकारसूत्र में राजा इल्लेय के अंगरक्षक यमकएवं मोग्गल को रामपुत्त का अनुयायी बताया गया है।



‘मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय और दीघनिकाय में भी उदकरामपुत्र का उल्लेख है।<sup>१०</sup> जातक में उल्लेख है कि बुद्ध ने उदकरामपुत्र से ध्यान की प्रक्रिया सीखी थी। यद्यपि उन्होंने उसकी मान्यताओं की समालोचना भी की है, फिर भी उनके मन में उसके प्रति बड़ा आदर था और ज्ञान प्राप्ति के बाद उन्हें धर्म के उपदेश योग्य मानकर उनकी तलाश की थी, किंतु तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।<sup>१०</sup> इन सभी आधारों से यह स्पष्ट है कि सूत्रकृतांग में उल्लिखित रामपुत्र (रामगुप्त) वस्तुतः पालि साहित्य में वर्णित उदकरामपुत्र ही है, अन्य कोई नहीं। उदकरामपुत्र की साधना पद्धति ध्यान-प्रधान और मध्यमार्गी थी, ऐसा भी पालि साहित्य से सिद्ध होता है।<sup>११</sup> सूत्रकृतांग में भी उन्हें आहार करते हुए मुक्ति प्राप्त करने वाला बताकर इसी बात की पुष्टि की गई है<sup>१२</sup> कि वे कठोर तप साधना के समर्थक न होकर मध्यममार्ग के समर्थक थे। यही कारण था कि बुद्ध का उनके प्रति झुकाव था। पुनः, सूत्रकृतांग में इन्हें पूर्वमहापुरुष कहा गया है। यदि सूत्रकृतांग के रामगुप्त की पहचान समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त से करते हैं, तो सूत्रकृतांग की तिथि कितनी भी आगे ले जाई जाए, किंतु किसी भी स्थिति में वह उसमें पूर्वकालिक ऋषि के रूप में उल्लिखित नहीं हो सकते, साथ ही साथ यदि सूत्रकृतांग का रामगुप्त समुद्रगुप्त का पुत्र रामगुप्त है, तो उसने सिद्ध-प्राप्ति की, ऐसा कहना भी जैन दृष्टि से उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी तक जैनों में यह स्पष्ट धारणा बन चुकी थी कि जम्बू के बाद कोई भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सका है, जबकि मूल गाथा में ‘सिद्धा’ विशेषण स्पष्ट है।

पुनः, रामगुप्त का उल्लेख बाहुक के पूर्व और नमि के बाद है, इससे भी लगता है कि रामगुप्त का अस्तित्व इन दोनों के काल के मध्य ही होना चाहिए। बाहुक का उल्लेख इसिभासियाइं में है और इसिभासियाइं किसी भी स्थिति में ईसा पूर्व की ही रचना सिद्ध होता है। अतः, सूत्रकृतांग में उल्लिखित रामगुप्त समुद्रगुप्त का पुत्र नहीं हो सकता। पालि साहित्य में भी हमें ‘बाहिय’ या ‘बाहिक’ का उल्लेख उपलब्ध होता है, जिसने बुद्ध से चार स्मृति-प्रस्थानों का उपदेश प्राप्त कर उनकी साधना के द्वारा अर्हत् पद को प्राप्त किया था। पालि त्रिपिटक से यह भी सिद्ध होता है कि बाहिय या बाहिक पूर्व में स्वतंत्र रूप से साधना करता

था, बाद में उसने बुद्ध से दीक्षा ग्रहण कर अर्हत् - पद प्राप्त किया था। चूंकि बाहिक बुद्ध का समकालीन था, अतः बाहिक से थोड़े पूर्ववर्ती रामपुत्त थे। पुनः, रामगुत्त, बाहुक, देवल, द्वैपायन, पाराशर आदि जैन परम्परा के ऋषि नहीं रहे हैं, यद्यपि नमि के वैराग्य-प्रसंग का उल्लेख उत्तराध्ययन में है। इसिभासियाइं में जिनके विचारों का संकलन हुआ है, उनमें पार्श्व आदि के एक दो अपवादों को छोड़कर शेष सभी ऋषि निर्ग्रन्थ परम्परा (जैन धर्म) से सम्बंधित नहीं हैं। इसिभासियाइं और सूत्रकृतांग- दोनों से ही रामगुत्त (रामपुत्त) का अजैन होना ही सिद्ध होता है, न कि जैन, जबकि समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त स्पष्ट रूप से एक जैन धर्मावलम्बी नरेश है।

सम्भवतः, डॉ. भागचंद्र अपने पक्ष की सिद्धि इस आधार पर करना चाहें कि सूत्रकृतांग की मूल गाथाओं में 'पुत्त' शब्द न होकर 'गुत्त' शब्द है और सूत्रकृतांग के टीकाकार शीलांक ने भी उसे रामगुप्त ही कहा है, रामपुत्त नहीं, साथ ही उसे राजर्षि भी कहा गया है, अतः उसे राजा होना चाहिए, किंतु हमारी दृष्टि से ये तर्क बहुत सबल नहीं हैं। प्रथम तो यह कि राजर्षि विशेषण नमि एवं रामगुप्त (रामपुत्त)- दोनों के संबंध में लागू हो सकता है और यह भी सम्भव है कि नमि के समान रामपुत्त भी कोई राजा रहा है, जिसने बाद में श्रमण दीक्षा अंगीकार कर ली है।

पुनः, हम यदि चूर्णि की ओर जाते हैं, जो शीलांक के विवरण की पूर्ववर्ती है, उसमें स्पष्ट रूप से 'रामाउत्ते'- ऐसा पाठ है, न कि 'रामगुत्ते'। इस आधार पर भी रामपुत्त (रामपुत्र) की अवधारणा सुसंगत बैठती है। इसिभासियाइं की भूमिका में भी सूत्रकृतांग के टीकाकार शीलांक ने जो रामगुप्त पाठ दिया है, उसे असंगत बताते हुए शुब्रिंग ने 'रामपुत्त'- इस पाठ का ही समर्थन किया है।<sup>१३</sup> यद्यपि स्थानांगसूत्र के अनुसार अंतकृद्दशा के तीसरे अध्ययन का नाम 'रामगुत्ते' है, किंतु प्रथम तो वर्तमान अंतकृद्दशा में उपलब्ध अध्ययन इससे भिन्न है, दूसरे यह भी सम्भव है कि किसी समय यह अध्ययन रहा होगा और उसमें रामपुत्त से सम्बंधित विवरण रहा होगा- यहां भी टीकाकार की भ्रांतिवश ही 'पुत्त' के स्थान पर गुत्त हो गया है।<sup>१४</sup> टीकाकारों ने मूल पाठों में ऐसे परिवर्तन किए हैं।

इन सब आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि सूत्रकृतांग में उल्लिखित रामपुत्र (रामगुप्त) समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त न होकर पालि त्रिपिटक साहित्य में एवं इसिभासियाइंग में उल्लिखित रामपुत्र ही है, जिससे बुद्ध ने ध्यान-प्रक्रिया सीखी थी।

-----

संदर्भ -

१. आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्त तवोधणा।  
उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसीयति।।  
अंभुजिया नमी विदेही रामगुप्ते ये भुंजिया  
बाहुए उदगं भोच्चा तहा नारायणे रिसी  
आसिले देविले चेव दीवायण महारिसी  
परसरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य।  
- सूत्रकृतांग, १/३/४/१-३
२. **Some Eithical Aspects of Madhayana Buddhism as depicted in the Suttrakrtanga, Page 2 (यह लेख All India Seminar on Early Buddhism and Mahayana-- Deptt. of Pali and Buddhist Studies, B.H.U. Nov. 10, 1984 में पढा गया था।)**
३. भगवतोऽर्हतो चंद्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता।  
महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन उपदेशात्।
४. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-१, पृ. ५१-५२ तथा सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग-२२, प्रस्तावना, पृ. ३१
५. सूत्रकृतांग, १/३/४/२-३
६. एते पुव्वं महापुरिसा अहिता इह सम्मता।  
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेयमणुस्सुआ।

- वही, १/३/४/४

७. रामपुत्तेण अरहता इसिणं बुइतां - इसिभासियाइं, २३

८. ये समणे रामपुत्ते अभिप्पसन्ना। - अंगुत्तनिकाय, ४/१९/७

९. मज्झिम निकाय, २/४/५, संयुत्तनिकाय, ३४/२/५/१०

१०. अथ खो भगवतो एतदहोसि- 'कस्स नु खो अहं पठमं धम्मं देसेय्यं? को इमं धम्मं खिप्पमेव आजानिस्सती' ति ? अथ खो भगवतो एतदहोसि- 'अयं खो उदको रामपुत्तो पण्डितो पण्डितो व्यत्तो मेधावी दीघरत्तं अप्परजक्खजातिको, यन्नूनाहं उदकस्स रामपुत्तस्स पठमं धम्मं देसेय्यं, सो इमं धम्मं खिप्पमेव आजानिस्सतीति। अयं खो अन्तरहिता देवता भगवतो आरोचेसि- 'अभिदोसकालंकतो, भन्ते, उदको रामपुत्तोति। भगवतो पि खो जाणं उदपादि 'अभिदोसकालंकतो उदको रामपुत्तो' ति।

- महावग्ग, १/६/१०/२

११. मज्झिमनिकाय, २/४/५, २/५/१०

१२. सूत्रकृतांग, १/३/४/२

१३. **Isibhasiyaim (A Jaina Text of Early Period), Introduction, p.4 (L. D. Institute of Indology, Ahmedabad).**

१४. अंतगइदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा-

नमि मातंगे सोमिले, रामपुत्ते सुदंसणे चेव।

जमाली य भगाली य, किंकिमे पल्लए इ य ॥ १॥

फाले अंबइपुत्ते य, एमेए दस आहिया॥

- स्थानांगसूत्र, स्थान १०/७५५

## अंतकृद्दशा की विषय-वस्तु : एक पुनर्विचार

अंतकृद्दशा जैन-अंग आगमों का अष्टम अंगसूत्र है। स्थानांगसूत्र में इसे दस दशाओं में एक बताया गया है। अंतकृद्दशा की विषय-वस्तु से सम्बंधित निर्देश श्वेताम्बर आगम साहित्य में स्थानांग, समवायांग एवं नंदीसूत्र में तथा दिगम्बर परम्परा में राजवार्त्तिक, धवला तथा जयधवला में उपलब्ध हैं।

### अंतकृद्दशा का वर्त्तमान स्वरूप

वर्त्तमान में जो अंतकृद्दशा उपलब्ध है, उसमें आठ वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, स्तिमित, अचल, काम्पिल्य, अक्षोभ, प्रसेनजित् और विष्णु- ये दस अध्ययन उपलब्ध हैं। द्वितीय वर्ग में आठ अध्ययन हैं। इनके नाम हैं - अक्षोभ, सागर, समुद्र, हिमवंत, अचल, धरण, पूराण और अभिचंद्र। तृतीय वर्ग में निम्न तेरह अध्ययन हैं - १. अनीयस कुमार, २. अनंतसेन कुमार, ३. अनिहत कुमार, ४. विद्वत् कुमार, ५. देवयश कुमार, ६. शत्रुसेन कुमार, ७. सारण कुमार, ८. गज कुमार, ९. सुमुख कुमार, १०. दुर्मुख कुमार, ११. कुयश कुमार, १२. दारूक कुमार और १३. अनादृष्टि कुमार। इसी प्रकार, चतुर्थ वर्ग में निम्न दस अध्ययन हैं- १. जालि कुमार, २. मयालि कुमार, ३. उपालि कुमार, ४. पुरुषसेन कुमार, ५. वारिषेण कुमार, ६. प्रद्युम्न कुमार, ७. शाम्ब कुमार, ८. अनिरुद्ध कुमार, ९. सत्यनेमि कुमार और १०. दृढ़नेमि कुमार। पंचम वर्ग में दस अध्ययन हैं, जिनमें आठ कृष्ण की प्रधान पत्नियों और दो प्रद्युम्न की पत्नियों से सम्बंधित हैं। प्रथम वर्ग से लेकर पांचवें वर्ग तक के अधिकांश व्यक्ति कृष्ण के परिवार से सम्बंधित हैं और अरिष्टनेमि के शासनकाल में हुए हैं। छठवें, सातवें और आठवें वर्ग का सम्बंध महावीर के शासन से है। छठवें वर्ग के निम्न १६ अध्ययन बताए गए हैं - १. मकाई, २. किंकम, ३. मुद्गारपाणि, ४. काश्यप, ५. क्षेमक, ६. धृतिधर, ७. कैलाश, ८. हरिचंदन, ९. वारत्त, १०. सुदर्शन, ११. पुण्यभद्र, १२. सुमनभद्र, १३. सुप्रतिष्ठित, १४. मेघकुमार, १५. अतिमुक्त कुमार और १६. अलक (अलक्ष्य) कुमार। सातवें वर्ग में १३ अध्ययनों के नाम निम्न हैं - १. नन्दा, २. नन्दवती, ३. नन्दोत्तरा, ४. नन्दश्रेणिका, ५. मरुता, ६.

सुमरुता, ७. महामरुता, ८. मरुद्देवा, ९. भद्रा, १०. सुभद्रा, ११. सुजता, १२. सुमनायिका और १३. भूतदत्ता। आठवें वर्ग में काली, सुकाली, महाकाली, कृष्ण और सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, महासेनकृष्णा और महासेनकृष्णा- इन दस श्रेणिक की पत्नियों का उल्लेख है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण को देखने से लगता है कि केवल किंकम और सुदर्शन ही ऐसे अध्याय हैं, जो स्थानांग में उल्लिखित विवरण से नाम साम्य रखते हैं, शेष सारे नाम भिन्न हैं।

### अंतकृद्दशा की विषयवस्तु सम्बंधी प्राचीन उल्लेख

स्थानांग में हमें सर्वप्रथम अंतकृद्दशा की विषयवस्तु का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें अंतकृद्दशा के ये दस अध्ययन बताए गए हैं - नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त (रामपुत्त), सुदर्शन, जमाली, भयाली, किंकिम, पल्लतेतीय और फालाम्बपुत्र<sup>१</sup>। यदि हम वर्तमान में उपलब्ध अंतकृद्दशा को देखते हैं, तो उसमें उपर्युक्त दस अध्ययनों में केवल दो नाम सुदर्शन और किंकम उपलब्ध हैं।

समवायांग में अंतकृद्दशा की विषयवस्तु का विवरण देते हुए कहा गया है कि इसमें अंतकृत् जीवों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक की ऋद्धि विशेष, भोग और उनका परित्याग, प्रब्रज्या, श्रुतज्ञान का ध्यान, तप तथा क्षमा आदि बहुविध प्रतिमाओं, सत्रह प्रकार के संयम, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य, समिति, गुप्ति, अप्रमाद, योग, स्वाध्याय और ध्यान सम्बंधी विवरण हैं। आगे इसमें बताया गया है कि इसमें उत्तर संयम को प्राप्त करने तथा परिग्रहों को जीतने पर चार कर्मों के क्षय होने से केवल ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार से होती है, इसका उल्लेख है, साथ ही उन मुनियों की श्रमण पर्याय, प्रयोगोपगमन, अनशन, तप और कर्मरजप्रवाह से मुक्त होकर मोक्षसुख को प्राप्त करने सम्बंधी उल्लेख हैं। समवायांग के अनुसार इसमें एक श्रुतस्कंध, दस अध्ययन और सात वर्ग बताए गए हैं, जबकि उपलब्ध अंतकृद्दशा में आठ वर्ग हैं, अतः समवायांग में वर्तमान अंतकृद्दशा की अपेक्षा एक वर्ग कम बताया गया है। ऐसा लगता है कि समवायांगकार ने स्थानांग की मान्यता और उसके सामने उपलब्ध ग्रंथ में एक समन्वय बैठाने का प्रयास किया है। ऐसा

लगता है कि समवायांगकार के सामने स्थानांग में उल्लिखित अंतकृद्दशा लुप्त हो चुकी थी और मात्र उसमें १० अध्ययन होने की स्मृति ही शेष थी तथा उसके स्थान पर वर्तमान उपलब्ध अंतकृद्दशा के कम से कम सात वर्गों का निर्माण हो चुका था।

नंदीसूत्रकार अंतकृद्दशा के सम्बंध में जो विवरण प्रस्तुत करता है, वह बहुत कुछ तो समवायांग के समान ही है, किंतु उसमें स्पष्ट रूप से इसके आठ वर्ग होने का उल्लेख प्राप्त है। समवायांगकार जहां अंतकृद्दशा के दस समुद्देशन कालों की चर्चा करता है, वहां नंदीसूत्रकार उसके आठ उद्देशन कालों की चर्चा करता है।<sup>३</sup> इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान में उपलब्ध अंतकृद्दशा की रचना समवायांग के काल तक बहुत कुछ हो चुकी थी और वहीं अंतिम रूप से नंदीसूत्र की रचना के पूर्व अपने अस्तित्व में आ चुका था। श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध तीनों विवरणों से हमें यह ज्ञात होता है कि स्थानांग में उल्लिखित अंतकृद्दशा के प्रथम संस्करण की विषय-वस्तु किस प्रकार से उससे अलग कर दी गई और नंदीसूत्र के रचनाकाल तक उसके स्थान पर नवीन संस्करण किस प्रकार अस्तित्व में आ गया।

यदि हम दिगम्बर साहित्य की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें, तो हमें सर्वप्रथम तत्त्वार्थवार्तिक में अंतकृद्दशा की विषयवस्तु से संबंधित विवरण उपलब्ध होता है। उसमें निम्न दस अध्ययनों की सूचना प्राप्त होती है- नमि, मातंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कम्बल और पातालम्बुष्टपुत्र। यदि हम स्थानांग में उल्लिखित अंतकृद्दशा के दस अध्ययनों से इनकी तुलना करते हैं, तो उसके यमलिक और वलिक- ऐसे दो नाम हैं, जो स्थानांग के उल्लेख से भिन्न हैं। वहां इनके स्थान पर जमाली, भयाली (भगाली)- ऐसे दो अध्ययनों का उल्लेख है। पुनः, चिल्वक का उल्लेख तत्त्वार्थवार्तिककार ने नहीं किया है। उसके स्थान पर पाल और अम्बुष्टपुत्र- ऐसे दो अलग-अलग नाम मान लिए हैं। यदि हम इसकी प्रामाणिकता की चर्चा में उतरें, तो स्थानांग का विवरण हमें सर्वाधिक प्रामाणिक लगता है।

स्थानांग में अंतकृद्दशा के जो दस अध्याय बताए गए हैं, उनमें नमि

नामक अध्याय वर्तमान में उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि स्थानांग में उल्लिखित 'नमि' नामक अध्ययन और उत्तराध्ययन में उल्लिखित 'नमि' नामक अध्ययन की विषयवस्तु एक थी या भिन्न-भिन्न थी। नमि का उल्लेख सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध होता है। वहां पाराशर, रामपुत्त आदि प्राचीन ऋषियों के साथ उनके नाम का भी उल्लेख हुआ है। स्थानांग में उल्लिखित द्वितीय 'मातंग' नामक अध्ययन ऋषिभाषित के २६ वें मातंग नामक अध्ययन के रूप में आज उपलब्ध है, यद्यपि विषय-वस्तु की समरूपता के सम्बंध में यहां भी कुछ कह पाना कठिन है। सोमिल नामक तृतीय अध्ययन का नाम साम्य ऋषिभाषित के ४२ वें सोम नामक अध्याय के साथ देखा जा सकता है। रामपुत्त नामक चतुर्थ अध्ययन भी ऋषिभाषित के तेईसवें अध्ययन के रूप में उल्लिखित है। समवायांग के अनुसार द्विगृद्धिदशा के एक अध्ययन का नाम भी रामपुत्त था। यह भी सम्भव है कि अंतकृद्दशा, इसिभासियाइं और द्विगृद्धिदशा के रामपुत्त नामक अध्ययन की विषयवस्तु भिन्न हो, चाहे व्यक्ति वही हो। सूत्रकृतांगकार ने रामपुत्त का उल्लेख अर्हत प्रवचन में एक सम्मानित ऋषि के रूप में किया है। रामपुत्त का उल्लेख पालिनिपिटक साहित्य में हमें विस्तार से मिलता है। स्थानांग में उल्लिखित अंतकृद्दशा का पांचवां अध्ययन सुदर्शन है। वर्तमान में अंतकृद्दशा में छठवें वर्ग के दसवें अध्ययन का नाम सुदर्शन है। स्थानांग के अनुसार अंतकृद्दशा का छठवां अध्ययन जमाली है। अंतकृद्दशा में सुदर्शन का विस्तृत उल्लेख अर्जुन मालाकार के अध्ययन में भी है। जमाली का उल्लेख हमें भगवतीसूत्र में भी उपलब्ध होता है, यद्यपि भगवतीसूत्र में जमाली को भगवान् महावीर के क्रियमाणकृत के सिद्धांत का विरोध करते हुए दर्शाया गया है। श्वेताम्बर परम्परा जमाली को भगवान् महावीर का जामातृ भी मानती है। परवर्ती साहित्य निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में भी जमाली का उल्लेख पाया जाता है और उन्हें एक निहनव बताया गया है। स्थानांग की सूची के अनुसार अंतकृद्दशा का सातवां अध्ययन भयाली (भगाली) है। 'भगाली मेतेज' ऋषिभाषित के १३ वें अध्ययन में उल्लिखित है। स्थानांग की सूची में अंतकृद्दशा के आठवें अध्ययन का नाम किंकम या किंकस है। वर्तमान में उपलब्ध अंतकृद्दशा



में छठवें वर्ग के द्वितीय अध्याय का नाम किंकम है, यद्यपि यहां तत्सम्बंधी विवरण का अभाव है। स्थानांग में अंतकृद्दशा के नौवें अध्ययन का नाम चिल्वक या चिल्लवाक है। कुछ प्रतियों में इसके स्थान पर 'पल्लेतीय' - ऐसा नाम भी मिलता है। इसके सम्बंध में भी हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है। दिगम्बर आचार्य अकलंकदेव भी इस सम्बंध में स्पष्ट नहीं हैं। स्थानांग में दसवें अध्ययन का नाम फालअम्बडपुत्र बताया है, जिसका संस्कृत रूप पालअम्बडपुत्र हो सकता है। अम्बड संन्यासी का उल्लेख हमें भगवतीसूत्र में विस्तार से मिलता है। अम्बड के नाम से एक अध्ययन ऋषिभाषित में भी है। यद्यपि विवाद का विषय यह हो सकता है कि जहां ऋषिभाषित और भगवती उसे अम्बड परिव्राजक कहते हैं, वहां उसे अम्बडपुत्र कहा गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गवेषणा करने पर हमें ऐसा लगता है कि स्थानांग में अंतकृद्दशा के जो १० अध्ययन बताए गए हैं, वे यथार्थ व्यक्तियों से सम्बंधित रहे होंगे, क्योंकि उनमें से अधिकांश के उल्लेख अन्य स्रोतों से भी उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जिनका उल्लेख बौद्ध परम्परा में मिल जाता है, यथा - रामपुत्र, सोमिल, मातंग आदि।

अंतकृद्दशा की विषयवस्तु के सम्बंध में विचार करते समय हम सुनिश्चित रूप से इतना कह सकते हैं कि इन सबमें स्थानांग सम्बंधी विवरण अधिक प्रामाणिक तथा ऐतिहासिक सत्यता को लिए हुए है। समवायांग में एक ओर इसके दस अध्ययन बताए गए हैं, तो दूसरी ओर समवायांगकार सात वर्गों की भी चर्चा करता है। इससे ऐसा लगता है कि समवायांग के उपर्युक्त विवरण लिखे जाने के समय स्थानांग में उल्लिखित अंतकृद्दशा की विषयवस्तु बदल चुकी थी, किंतु वर्तमान में उपलब्ध अंतकृद्दशा का पूरी तरह निर्माण भी नहीं हो पाया था, केवल सात ही वर्ग बने थे। वर्तमान में उपलब्ध अंतकृद्दशा की रचना नंदीसूत्र में तत्सम्बंधी विवरण लिखे जाने के पूर्व निश्चित रूप से हो चुकी थी, क्योंकि नंदीसूत्रकार उसमें १० अध्ययन होने का कोई उल्लेख नहीं करता है, साथ ही वह आठ वर्गों की चर्चा करता है। वर्तमान अंतकृद्दशा के भी आठ वर्ग ही हैं।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि वर्तमान में उपलब्ध अंतकृद्दशा की विषयवस्तु नंदीसूत्र की रचना के कुछ समय पूर्व तक अस्तित्व में आ गई थी। ऐसा लगता है कि वल्लभी वाचना के पूर्व ही प्राचीन अंतकृद्दशा के अध्यायों की या तो उपेक्षा कर दी गई, या उन्हें यत्र-तत्र अन्य ग्रंथों में जोड़ दिया गया था और इस प्रकार प्राचीन अंतकृद्दशा की विषयवस्तु के स्थान पर नवीन विषयवस्तु रख दी गई। यहां यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो सकता है कि ऐसा क्यों किया गया। क्या विस्मृति के आधार पर प्राचीन अंतकृद्दशा की विषयवस्तु लुप्त हो गई अथवा उसकी प्राचीन विषयवस्तु सप्रयोजन वहां से अलग कर दी गई।

मेरी मान्यता यह है कि विषयवस्तु का यह परिवर्तन विस्मृति के कारण नहीं, परंतु सप्रयोजन ही हुआ है। अंतकृद्दशा की प्राचीन विषयवस्तु में जिन दस व्यक्तियों के चरित्र का चित्रण किया गया था, उनमें निश्चित रूप से मातंग, अम्बड, रामपुत्र, भयाली (भगाली); जमाली आदि ऐसे हैं, जो चाहे किसी समय तक जैन परम्परा में सम्मान्य रूप से रहे हों, किंतु अब वे जैन परम्परा के विरोधी या बाहरी मान लिए गए थे। जिनप्रणीत अंगसूत्रों में उनका उल्लेख रखना समुचित नहीं माना गया, अतः जिस प्रकार प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को ऋषियों के उपदेशों से सप्रयोजन अलग किया गया, उसी प्रकार अंतकृद्दशा से इनके विवरण को भी सप्रयोजन अलग किया। यह भी सम्भव है कि अब जैन परम्परा में श्रीकृष्ण को वासुदेव के रूप से स्वीकार कर लिया गया, तो उनके तथा उनके परिवार से सम्बंधित कथानकों को कहीं स्थान देना आवश्यक था, अतः अंतकृद्दशा की प्राचीन विषयवस्तु को बदलकर उसके स्थान पर कृष्ण और उनके परिवार से सम्बंधित पांच वर्गों को जोड़ दिया गया।

अंतकृद्दशा की विषयवस्तु की चर्चा करते हुए सबसे महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने यह आता है कि दिगम्बर परम्परा में अंतकृद्दशा की जो विषयवस्तु तत्त्वार्थवार्तिक में उल्लिखित है, वह स्थानांग की सूची से बहुत कुछ मेल खाती है। यह कैसे सम्भव हुआ? दिगम्बर परम्परा जहां अंग आगमों के लोप की बात करती है, तो फिर तत्त्वार्थवार्तिककार को उसकी प्राचीन विषयवस्तु के सम्बंध

में जानकारी कैसे हो गई। मेरी ऐसी मान्यता है कि श्वेताम्बर आगम साहित्य के सम्बंध में दिगम्बर परम्परा में जो कुछ जानकारी प्राप्त हुई है, वह यापनीय परम्परा के माध्यम से प्राप्त हुई है और इतना निश्चित है कि यापनीय और श्वेताम्बरों का भेद होने तक स्थानांग में उल्लिखित सामग्री अंतकृद्दशा में प्रचलित रही हो और तत्सम्बंधी जानकारी अनुश्रुति के माध्यम से तत्त्वार्थवार्त्तिककार तक पहुंची हो। तत्त्वार्थवार्त्तिककार को भी कुछ नामों के सम्बंध में अवश्य ही भ्रांति है, अगर उसके सामने मूल ग्रंथ होता, तो ऐसी भ्रांति की सम्भावना नहीं रहती। जमाली का तो संस्कृत रूप यमलीक हो सकता है, किंतु भगाली या भयाली का संस्कृत रूप वलीक किसी प्रकार नहीं बनता। इसी प्रकार, किंकम का किष्कम्बल रूप किस प्रकार बना, यह भी विचारणीय है। चिल्वक या पल्लतैत्तीय के नाम का अपलाप करके पालअम्बष्ठपुत्त को भी अलग-अलग कर देने से ऐसा लगता है कि वार्त्तिककार के समक्ष मूल ग्रंथ नहीं है, केवल अनुश्रुति के रूप में ही वह उनकी चर्चा कर रहा है। जहां श्वेताम्बर चूर्णिकार और टीकाकार विषयवस्तु सम्बंधी दोनों ही प्रकार की विषयवस्तु से अवगत हैं, वहां दिगम्बर आचार्यों को (मात्र प्राचीन संस्करण) उपलब्ध अंतकृद्दशा की विषयवस्तु के सम्बंध में, जो कि छठवीं शताब्दी में अस्तित्व में आ चुकी थी, कोई जानकारी नहीं थी, अतः उनका आधार केवल अनुश्रुति था ग्रंथ नहीं, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में आचार्यों का आधार एक ओर ग्रंथ था, तो दूसरी ओर स्थानांग का विवरण। धवला और जयधवला में अंतकृद्दशा सम्बंधी जो विवरण उपलब्ध है, वह निश्चित रूप से तत्त्वार्थवार्त्तिक पर आधारित है। स्वयं धवलाकार वीरसेन 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये' कहकर उसका उल्लेख करता है।" इससे स्पष्ट है कि धवलाकार के समक्ष भी प्राचीन विषयवस्तु का कोई ग्रंथ उपस्थित नहीं था।

अतः, हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि प्राचीन अंतकृद्दशा की विषयवस्तु ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी के पूर्व ही परिवर्तित हो चुकी थी और छठवीं शताब्दी के अंत तक वर्तमान अंतकृद्दशा अस्तित्व में आ चुकी थी।  
संदर्भ :

१. स्थानांग (सं. मधुकरमुनि) दशम स्थान, सूत्र ११० एवं ११३

दस दसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कम्मविवागदसाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरण-दसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ, संखेवियदसाओ।

एवं

अंतगडदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा-णमि मातंगे सोमिले, रामगुत्ते सुदंसणे चेव।

जमाली य भगाली य, किंकमे, चिल्लएतिया।

फाले अंबडपत्ते य एमेते दस आहिता।।

२.

समवायांग (सं. मधुकरमुनि) प्रकीर्णक समवाय सूत्र, ५३९-५४०

से किं तं अंतगडदसाओ ? अन्तगडदसासु णं अन्तगडाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइय-परलोइया इट्ठिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वजायो सुयपरिग्गहा त्रवोवहाणाइं पडिमाओ बहुविहाओ, खमा अजवं मद्दवं च, सोअं च सच्चसिहयं, सत्तरसविहो य संजमो, उत्तमं च बंभं, आकिंचणया तवो चियाओ समिइगुत्तीओ चेव, तह अपप्मायजोगो, सज्झायज्झाणाण य उत्तमाण दोणहंपि लक्खणाइं।

पत्ताण य संजमुत्तमं जियपरीसहाणं चउव्विहकम्मखयम्मि जह केवलस्स लंभो, परियाओ जत्तिओ य जह पालिओ मुणिहिं, पायोवगओ य जो जहिं, जत्तियाणि भत्ताणि छेयइत्ता अंतगडोमुणिवरो तमरयोघविप्पमुक्को, मोक्खसुहमणुत्तरं च पत्ता। एए अण्णे य एवमाइ वित्थोरणं परूवेई।

अंतगडदसासु णं पस्ति वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जाओ संगहणीओ।

से णं अंगट्टयाए अट्टमे अंगे एगे सुयक्खंघे दस अज्झयणा सत्रा वग्गा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसणकाला संखेज्जाइं पयसयसहस्साइं

पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा अणंता पज्जवा परिता तसा अणंता थावरा सासया कडा णिबद्धा णिकाइया जिणपण्णत्ताभावा आघविज्जंति पण्णा विज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति।

से एवं आया एवं णाया एवं विणाया एवं चरण-करण-परूवणया आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। सेत्तं अंतगडदसाओ।

३. नंदीसूत्र (सं. मधुकरमुनि) सूत्र ५३, पृ. १८३

से किं तं अंतगडदसाओ ?

अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइआइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआ, इहिविसेसा, भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अंतकिरिआओ आघविज्जंति। अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जाक्केढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्टयाए अट्टमे अंगे, एगे सुअखंधे अट्ट वग्गा, अट्ट उद्देसणकाला, वट्ट समुद्देसणकाला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। से त्तं अंतगडदसाओ।

४. तत्त्वार्थवार्तिक- पृष्ठ ५१

संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तेकृतः नमिमतंगसोमिलरामपुत्रसुदर्शन समवां मी कवलोकिनिष्कंबलपालम्बवष्टपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे॥

५. षट्खण्डागम धवला १/१/२, खण्ड एक, भाग एक, पुस्तक एक-  
पृष्ठ १०३-४  
अंतयडदसा णाम अंगं तेवीस लक्ख-अट्टावीस-सहस्स-पदेहि  
२३२८०० एक्केक्कमिह य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं  
लद्धूण णिव्वागं गदे दस दस वण्णदि। उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये-  
संसारस्यान्तःकृतो यैस्तेऽन्तेकृतः नमि-मतंग सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-  
यमलीक-वलीककिष्कं विल पालम्बष्टपुत्रा इति एते दश  
वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं  
दश दशानगाराः दारूणानुप-सर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयावस्तकृतो  
दशास्यां वण्यन्त इति अंतकृद्दशा।

## प्रश्नव्याकरणसूत्र की प्राचीन विषयवस्तु की खोज

श्वेताम्बर और दिगम्बर- दोनों ही परम्पराएं यह स्वीकार करती हैं कि प्रश्नव्याकरणसूत्र (पणहवागरण) जैन अंग-आगम साहित्य का दसवां अंग-ग्रंथ है, किंतु दिगम्बर परम्परा के अनुसार अंग-आगम साहित्य का विच्छेद (लुप्त) हो जाने के कारण वर्तमान में यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा अंग साहित्य का विच्छेद नहीं मानती है, अतः उसके उपलब्ध आगमों में प्रश्नव्याकरण नामक ग्रंथ आज भी पाया जाता है; किंतु समस्या यह है कि क्या श्वेताम्बर परम्परा के वर्तमान प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु वही है, जिसका निर्देश अन्य श्वेताम्बर प्राचीन आगम ग्रंथों में है, अथवा यह परिवर्तित हो चुकी है। प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बंधी प्राचीन निर्देश श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांग (ठाणांग), समवायांग, अनुयोगद्वार एवं नंदीसूत्र में और दिगम्बर परम्परा के राजवार्त्तिक, धवला एवं जयधवला नामक टीका ग्रंथों में उपलब्ध हैं। इनमें स्थानांग और समवायांग लगभग तीसरी-चौथी शती एवं नंदी लगभग पांचवीं-छठवीं शताब्दी, राजवार्त्तिक आठवीं शताब्दी तथा धवला एवं जयधवला दसवीं

शताब्दी के ग्रंथ स्वीकार किए गए हैं।

**प्रश्नव्याकरण नाम क्यों ?**

‘प्रश्नव्याकरण’ - इस नाम को लेकर प्राचीन टीकाकारों एवं विद्वानों में यह धारणा बन गई थी कि जिस ग्रंथ में प्रश्नों के समाधान किए गए हों, वह प्रश्नव्याकरण है। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण के प्राचीन संस्करण की विषयवस्तु प्रश्नोत्तर शैली में नहीं थी और न वह प्रश्नविद्या अर्थात् निमित्तशास्त्र से ही सम्बंधित थी। गुरु-शिष्य संवाद की प्रश्नोत्तर शैली में आगम ग्रंथ की रचना एक परवर्ती घटना है - भगवती या व्याख्याप्रज्ञप्ति इसका प्रथम उदाहरण है। यद्यपि समवायांग एवं नंदीसूत्र में यह माना गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ पूछे गए, १०८ नहीं पूछे गए और १०८ अंशतः पूछे गए और अंशतः नहीं पूछे गए प्रश्नों के उत्तर हैं<sup>१</sup>, किंतु यह अवधारणा काल्पनिक ही लगती है। प्रश्नव्याकरण की प्राचीनतम विषयवस्तु प्रश्नोत्तर रूप में थी या उसमें प्रश्नों का उत्तर देने वाली विद्याओं का समावेश था- समवायांग और नंदीसूत्र के उल्लेखों के अतिरिक्त आज इसका कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्राचीनकाल में ग्रंथों को प्रश्नों के रूप में विभाजित करने की परम्परा थी। इसका सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण आपस्तम्बीय धर्मसूत्र है, जिसकी विषयवस्तु को दो प्रश्नों में विभक्त किया है। इसके प्रथम प्रश्न में ११ पटल और द्वितीय प्रश्न में ११ पटल हैं। यह सम्पूर्ण ग्रंथ प्रश्नोत्तर रूप में भी नहीं है। इसी प्रकार, बौधायन धर्मसूत्र की विषयवस्तु भी प्रश्नों में विभक्त है। अतः, प्रश्नोत्तर शैली में होने के कारण या प्रश्नविद्या से सम्बंधित होने के कारण इसे प्रश्नव्याकरण नाम दिया गया था- यह मानना उचित नहीं होगा। वैसे इसका प्राचीन नाम ‘वागरण’ (व्याकरण) ही था। ऋषिभाषित में इसका इसी नाम से उल्लेख है।<sup>२</sup> प्राचीनकाल में तात्त्विक व्याख्या को व्याकरण कहा जाता था।

**प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु**

प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बंध में अन्य ग्रंथों में जो निर्देश हैं- उससे वर्तमान प्रश्नव्याकरण निश्चय ही भिन्न है। यह परिवर्तन किस रूप में हुआ है, यही विचारणीय है। यदि हम ग्रंथ के कालक्रम को ध्यान में रखते हुए

प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बंध में उपलब्ध विवरणों को देखें, तो हमें उसकी विषयवस्तु में हुए परिवर्तनों की स्पष्ट सूचना उसमें मिल जाती है।

(अ) स्थानांग - प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बंध में प्राचीनतम उल्लेख स्थानांगसूत्र में मिलता है। इसमें प्रश्नव्याकरण की गणना दस दशाओं में की गई है तथा उसके निम्न दस अध्ययन बताए गए हैं<sup>३</sup> -

१. उपमा, २. संख्या, ३. ऋषिभाषित, ४. आचार्यभाषित, ५. महावीरभाषित, ६. क्षोभिकप्रश्न, ७. कोमलप्रश्न, ८. आदर्शप्रश्न (आद्रकप्रश्न), ९. अंगुष्ठप्रश्न, १०. बाहुप्रश्न। इससे फलित होता है कि सर्वप्रथम यह दस अध्यायों का ग्रंथ था। दस अध्यायों के ग्रंथ दसा (दशा) कहे जाते थे।

(ब) समवायांग - स्थानांग के पश्चात् प्रश्नव्याकरणसूत्र की विषयवस्तु का अधिक विस्तृत विवेचन करने वाला आगम समवायांग है। समवायांग में उसकी विषयवस्तु का निर्देश करते हुए कहा गया है कि प्रश्नव्याकरणसूत्र में १०८ प्रश्नों, १०८ अप्रश्नों और १०८ प्रश्नाप्रश्नों की विद्याओं के अतिशयों (चमत्कारों) का तथा नागों-सुपर्णों के साथ दिव्य संवादों का विवेचन है। यह प्रश्नव्याकरण दशा स्वसमय-परसमय के प्रज्ञापक एवं विविध अर्थों वाली भाषा के प्रवक्ता प्रत्येकबुद्धों के द्वारा भाषित अतिशय गुणों एवं उपशमभाव के धारक तथा ज्ञान के आकर आचार्यों के द्वारा विस्तार से भाषित और जगत् के हित के लिए वीर महर्षि के द्वारा विशेष विस्तार से भाषित है। यह आदर्श (अद्वाग), अंगुष्ठ, बाहु, असि, मणि, क्षौम (वस्त्र) एवं आदित्य (के आश्रय से) भाषित है। इसमें महाप्रश्न विद्या, मनप्रश्नविद्या, देवप्रयोग आदि का उल्लेख है। इसमें सब प्राणियों के प्रधान गुणों के प्रकाशक, दुर्गुणों को अल्प करने वाले, मनुष्यों की मति को विस्मित करने वाले, अतिशयमय कालज्ञ एवं शमदम से युक्त उत्तर तीर्थंकरों के प्रवचन में स्थित करने वाले, दुरभिगम, दुरवगाह, सभी सर्वज्ञों के द्वारा सम्मत सभी अज्ञजनों को बोध कराने वाले प्रत्यक्ष प्रतीतिकारक, विविधगुणों से और महान् अर्थों से युक्त जिनवर प्रणीत प्रश्न (वचन) कहे गए हैं।

प्रश्नव्याकरण अंग की सीमित वाचनाएं हैं, संख्यात् अनुयोगंद्वार हैं, संख्यात् प्रतिपत्तियां हैं, संख्यात् वेद हैं, संख्यात् श्लोक हैं, संख्यात् निर्युक्तियां



हैं और संख्यात् संग्रहणियां हैं।

प्रश्नव्याकरण अंगरूप से दसवां अंग है, इसमें एक श्रुतस्कन्ध है, पैंतालीस उद्देशन काल हैं, पैंतालीस समुद्देशन काल हैं, पद गणना की अपेक्षा संख्यात् लाख पद कहे गए हैं। इसमें संख्यात् अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्याय हैं, परीत त्रस हैं, अनन्त स्थावर हैं, इसमें शाश्वत कृत, निबद्ध, निकाचित, जिनप्रज्ञप्त भाव कहे जाते हैं, प्रज्ञापित किए जाते हैं, प्ररूपित किए जाते हैं, निदर्शित किए जाते हैं और उपदर्शित किए जाते हैं। इस अंग के द्वारा आत्मा ज्ञाता होता है, विज्ञाता होता है। इस प्रकार चरण और करण की प्ररूपणा के द्वारा वस्तु स्वरूप का कथन, प्रज्ञापन, निदर्शन और उपदर्शन किया जाता है।<sup>४</sup>

(स) नंदीसूत्र- नंदीसूत्र में प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जो उल्लेख है, वह समवायांग के विवरण का मात्र संक्षिप्त रूप है। उसके भाव और भाषा-दोनों ही समान हैं, मात्र विशेषता यह है कि इसमें प्रश्नव्याकरण के ४५ अध्ययन बताए गए हैं, जबकि समवायांग में केवल ४५ समुद्देशन कालों का उल्लेख है, ४५ अध्ययन का उल्लेख समवायांग में नहीं है।<sup>५</sup>

(द) तत्त्वार्थवार्तिक- तत्त्वार्थवार्तिक में प्रश्नव्याकरण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आक्षेप और विक्षेप के द्वारा हेतु और नय के आश्रय से प्रश्नों के व्याकरण को प्रश्नव्याकरण कहते हैं। इसमें लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया जाता है।<sup>६</sup>

(इ) धवला- धवला में प्रश्नव्याकरण की जो विषयवस्तु बताई गई है, वह तत्त्वार्थवार्तिक में प्रतिपादित विषयवस्तु से किंचित् विभिन्नता रखती है। उसमें कहा गया है कि प्रश्नव्याकरण में आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी- इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है। उसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि आक्षेपणी कथा परसमयों (अन्य मतों) का निराकरण कर छह द्रव्यों और नव तत्त्वों का प्रतिपादन करती है। विक्षेपणी कथा परसमय के द्वारा स्वसमय पर लगाए गए आक्षेपों का निराकरण कर स्वसमय की स्थापना करती है। संवेदनी कथा पुण्यफल की कथा है। इसमें तीर्थकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्त्ती आदि की ऋद्धि का विवरण है। निर्वेदनी कथा पापफल की कथा है, इसमें नरक, तीर्थच,

जरा- मरण, रोग आदि सांसारिक दुःखों का वर्णन किया जाता है। उसमें यह भी कहा गया है कि प्रश्नव्याकरण प्रश्नों के अनुसार हत, नष्ट, मुष्टि, चिंता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या निरूपण करता है।\*

इस प्रकार, प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बंध में प्राचीन उल्लेखों में एकरूपता नहीं है।

### प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बंधी विवरणों की समीक्षा

मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरणसूत्र की विषयवस्तु के तीन संस्कार हुए होंगे। प्रथम एवं प्राचीनतम संस्कार, जो 'वागरण' कहा जाता था, में ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित ही इसकी प्रमुख विषयवस्तु रही होगी। ऋषिभाषित में 'वागरण' ग्रंथ का एवं उसकी विषयवस्तु की ऋषिभाषित से समानता का उल्लेख है। 'इससे प्राचीनकाल (ई.पू. चौथी या तीसरी शताब्दी) में उसके अस्तित्व की सूचना तो मिलती ही है, साथ ही प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित का सम्बंध भी स्पष्ट होता है।

स्थानांगसूत्र में प्रश्नव्याकरण का वर्गीकरण दस दशाओं में किया है। सम्भवतः, जब प्रश्नव्याकरण में इस प्राचीन संस्करण की रचना हुई होगी, तब ग्यारह अंगों अथवा द्वादश गणिपिटिक की अवधारणा भी स्पष्ट रूप से नहीं बन पाई थी। अंग-आगम साहित्य के ५ ग्रंथ उपासकदशा, अंतकृदशा, प्रश्नव्याकरणदशा, अनुत्तरोपपातिक दशा तथा कर्मविपाक-दशा (विपाकदशा) दस दशाओं में ही परिगणित किए जाते थे। आज इन दशाओं में उपर्युक्त पांच तथा आचारदशा, जो आज दशाश्रुतस्कंध के नाम से जानी जाती है, को छोड़कर शेष चार- बंधदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा और संक्षेपदशा अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध छह दशाओं में भी उपासकदशा और आचारदशा की विषयवस्तु स्थानांग में उपलब्ध विवरण के अनुरूप है। कर्मविपाक और अनुत्तरोपपातिकदशा की विषयवस्तु में कुछ समानता है और कुछ भिन्नता है, जबकि प्रश्नव्याकरणदशा और अंतकृदशा की विषयवस्तु पूरी तरह बदल गई है। स्थानांग में प्रश्नव्याकरण की जो विषयवस्तु सूचित की गई है, वही इसका प्राचीनतम संस्करण लगता है,

क्योंकि यहां तक इसकी विषयवस्तु में नैमित्तिक विद्याओं का अधिक प्रवेश नहीं देखा जाता है। स्थानांग प्रश्नव्याकरण के जिन दस अध्ययनों का निर्देश करता है, उनमें भी मेरी दृष्टि में इसिभासियाड़, आयरियभासियाड़ और महावीरभासियाड़- ये तीन प्राचीन प्रतीत होते हैं। 'उवमा' और 'संखा' की सामग्री क्या थी ? कहा नहीं जा सकता, यद्यपि मेरी दृष्टि में 'उवमा' में कुछ रूपकों के द्वारा धर्मबोध कराया गया होगा। जैसा कि ज्ञाताधर्मकथा में कूर्म और अण्डों के रूपकों द्वारा क्रमशः यह समझाया गया है कि जो इंद्रिय संयम नहीं करता है, वह दुःख को प्राप्त होता है और जो साधना में अस्थिर चित्त रहता है वह फल को प्राप्त नहीं करता है, इसी प्रकार 'संखा' में स्थानांग और समवायांग के समान संख्या के आधार पर वर्णित सामग्री हो। यद्यपि यह भी संभव है कि संखा नामक अध्ययन का सम्बंध सांख्यदर्शन से रहा हो, क्योंकि अन्य परम्पराओं के विचारों को प्रस्तुत करने की उदारता इस ग्रंथ में थी, साथ ही प्राचीन काल में सांख्य श्रमणधारा का ही दर्शन था और जैन दर्शन से उसकी निकटता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अद्वागपसिणाड़, बाहुपसिणाड़ आदि अध्यायों के सम्बंध भी निमित्तशास्त्र से न होकर इन नाम वाले व्यक्तियों की तात्त्विक परिचर्चा से रहा हो, वे क्रमशः आर्द्रक और बाहुक नामक ऋषियों की तात्त्विक परिचर्चा से सम्बंधित रहे होंगे। अद्वागपसिणाड़ की टीकाकारों ने 'आदर्श प्रश्न' ऐसी जो संस्कृत छाया की है, वह भी उचित नहीं है। उसकी संस्कृत छाया 'आर्द्रक प्रश्न'- ऐसी होना चाहिए। आर्द्रक से हुए प्रश्नोत्तरों की चर्चा सूत्रकृतांग में मिलती है, साथ ही वर्तमान ऋषिभाषित में भी 'अद्वाएण' (आर्द्रक) और बाहु (बाहुक) नामक अध्ययन उपलब्ध है। हो सकता है कि कोमल और खोम (क्षोम) भी कोई ऋषि रहे हैं। सोम का उल्लेख भी ऋषिभाषित में है, फिर भी यदि हम यह मानने को उत्सुक ही हो कि ये अध्ययन निमित्तशास्त्र से सम्बंधित थे, तो हमें यह मानना होगा कि यह सामग्री उसमें बाद में जुड़ी है, प्रारम्भ में उसका अंग नहीं थी, क्योंकि प्राचीनकाल में निमित्तशास्त्र का अध्ययन जैन भिक्षु के लिए वर्जित था और इसे पापश्रुत माना जाता था।

स्थानांग और समवायांग- दोनों में प्रश्नव्याकरण सम्बंधी जो विवरण

हैं, वे भी एक काल के नहीं हैं। समवायांग का विवरण परवर्ती है, क्योंकि उस विवरण में मूल तथ्य सुरक्षित रहते हुए भी निमित्तशास्त्र सम्बंधी विवरण काफी विस्तृत हो गया है। स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन बताए गए हैं, जबकि समवायांग उसमें ४५ उद्देशक होने की सूचना देता है। 'उवमा' और 'संखा' नामक स्थानांग में वर्णित प्रारम्भिक दो अध्ययनों का यहां निर्देश ही नहीं है। हो सकता है कि 'उवमा' की सामग्री ज्ञाताधर्मकथा में और 'संखा' की सामग्री - यदि उसका सम्बंध संख्या से था, तो स्थानांग या समवायांग में डाल दी गई हो। 'कोमलपसिणाइं' का भी उल्लेख नहीं है। इन तीनों के स्थान पर 'असि' 'मणि' और आदित्य- ये तीनों नाम नए जुड़ गए हैं, पुनः इनका उल्लेख भी अध्ययनों के रूप में नहीं है। समवायांग का विवरण स्पष्ट रूप से यह बताता है कि प्रश्नव्याकरण का वर्ण्य-विषय चमत्कारपूर्ण विविध विद्याओं से परिपूर्ण है। यहां इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं और महावीरभासियाइं- इन तीन अध्ययनों का विलोप कर यह निमित्तशास्त्र सम्बंधी विवरण इनके द्वारा कथित है- यह कह दिया गया है।

वस्तुतः, समवायांग का विवरण हमें प्रश्नव्याकरण के किसी दूसरे परिवर्द्धित संस्करण की सूचना देता है, जिसमें नैमित्तशास्त्र से सम्बंधित विवरण जोड़कर प्रत्येक बुद्धभाषित (ऋषिभाषित), आचार्यभाषित और वीरभाषित (महावीरभाषित) भाग अलग कर दिए गए थे और इस प्रकार इसे शुद्धरूप से एक निमित्तशास्त्र का ग्रंथ बना दिया गया था। उसे प्रामाणिकता देने के लिए यहां तक कह दिया गया कि ये प्रत्येक-बुद्ध, आचार्य और महावीरभाषित हैं।

तत्त्वार्थवार्तिक में प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जो विवरण उपलब्ध है, वह इतना अवश्य सूचित करता है कि ग्रंथकार के सामने प्रश्नव्याकरण की कोई प्रति नहीं थी, उसने प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु के सम्बंध में जो विवरण दिया है, वह कल्पनाश्रित ही है। यद्यपि धवला में प्रश्नव्याकरण के सम्बंध में जो निमित्तशास्त्र से सम्बंधित कुछ विवरण है, वह निश्चय ही यह बताता है कि ग्रंथकार ने उसे अनुश्रुति के रूप में श्वेताम्बर या यापनीय परम्परा से प्राप्त किया होगा। धवला में वर्णित विषयवस्तु वाला कोई प्रश्नव्याकरण अस्तित्व में भी रहा होगा, यह कहना कठिन है।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि समवायांग का प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बन्धी विवरण स्थानांग की अपेक्षा परवर्ती काल का है, फिर भी इसमें कुछ तथ्य ऐसे अवश्य हैं, जो हमारी इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि प्रश्नव्याकरण की मूलभूत विषयवस्तु ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित ही थी और जिसका अधिकांश भाग आज भी ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि के रूप में सुरक्षित है, क्योंकि समवायांग में भी प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु को प्रत्येकबुद्धभाषित, आचार्यभाषित, महर्षिवीरभाषित कहा गया है। स्थानांग में जहां ऋषिभाषित शब्द है, वहां समवायांग में प्रत्येकबुद्धभाषित शब्द है। यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित के प्रत्येक ऋषि को आगे चलकर जैनाचार्यों ने प्रत्येकबुद्ध के रूप में स्वीकार किया है<sup>१०</sup> और यह शब्द परिवर्तन उसी का सूचक है। यही कारण है कि इसमें ऋषिभाषित के स्थान पर प्रत्येकबुद्धभाषित कहा गया है। हमारे कथन की पुष्टि का दूसरा आधार यह है कि समवायांग में प्रश्नव्याकरण के एक श्रुतस्कंध और ४५ अध्याय माने गए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि समवायांग के प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु सम्बन्धी इस विवरण के लिखे जाने तक भी यह अवधारणा अचेतनरूप में अवश्य थी कि प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु प्रत्येकबुद्धों, धर्माचार्यों और महावीर के उपदेशों से निर्मित थी, यद्यपि इस काल तक ऋषिभाषित को उससे अलग कर दिया गया होगा, उसके ४५ अध्ययनों के स्थान पर निमित्तशास्त्र सम्बन्धी विद्याएं समाविष्ट कर दी गई होंगी, यद्यपि निमित्तशास्त्र के विषय जोड़ने का ही ऐसा कुछ प्रयत्न सीमित रूप में स्थानांग में प्रश्नव्याकरण सम्बन्धी विवरण लिखे जाने के पूर्व भी हुआ होगा। मेरी धारणा यह है कि प्रश्नव्याकरण में प्रथम निमित्तशास्त्र का विषय जुड़ा होगा और फिर ऋषिभाषित वाला अंश अलग हुआ तथा बीच का कुछ काल ऐसा रहा, जब वही विषयवस्तु दोनों में समानांतर बनी रही। यहां हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि जहां स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन होने का उल्लेख है, वहां समवायांग में इसके ४५ उद्देशन काल और नन्दी में ४५ अध्ययन होने का उल्लेख है - यह आकस्मिक नहीं है। यह उल्लेख प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित की किसी साम्यता का संकेतक है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण में दस अध्ययन होना

भी सप्रयोजन है - स्थानांग के पूर्व विवरण से संगति बैठाने के लिए ही ऐसा किया गया होगा। दस और पैंतालीस के इस विवाद को सुलझाने के दो ही विकल्प हैं - प्रथम सम्भावना यह हो सकती है कि प्राचीन संस्करण में दस अध्याय रहे हों और उसके ऋषिभाषित वाले अध्याय के ४५ उद्देशक रहे हों, अथवा मूल प्रश्नव्याकरण में वर्तमान ऋषिभाषित के ४५ अध्याय ही हों, क्योंकि इनमें भी ऋषिभाषित के साथ महावीरभाषित और आचार्यभाषित का समावेश हो ही जाता है। यह भी सम्भव है कि वर्तमान ऋषिभाषित के ४५ अध्यायों में से कुछ अध्याय ऋषिभाषित के अंतर्गत और कुछ आचार्यभाषित एवं कुछ महावीरभाषित के अंतर्गत उद्देशकों के रूप में वर्गीकृत हुए हों। महत्त्वपूर्ण यह है कि समवायांग में प्रश्नव्याकरण के ४५ अध्ययन न कहकर ४५ उद्देशन काल कहा गया है, किंतु प्रश्नव्याकरण से अलग करने के पश्चात् उन्हें एक ही ग्रंथ के अंतर्गत ४५ अध्यायों के रूप में रख दिया गया हो। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि समवायांग में ऋषिभाषित के ४४ अध्ययन कहे गए हैं, जबकि वर्तमान ऋषिभाषित में ४५ अध्ययन हैं। क्या वर्द्धमान नामक अध्ययन पहले इसमें सम्मिलित नहीं था, क्योंकि इस नाम का अध्ययन पहले इसमें नहीं था, क्योंकि इसे महावीरभाषित में परिगणित नहीं किया जाता था अथवा अन्य कोई कारण था, हम नहीं कह सकते। यह भी सम्भव है कि उत्कटवादी अध्याय में किसी ऋषि का उल्लेख नहीं है, साथ ही यह अध्याय चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन करता है, अतः इसे ऋषिभाषित में स्वीकार नहीं किया हो। समवायांग और नंदीसूत्र के मूल पाठों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि नंदीसूत्र में प्रश्नव्याकरण के ४५ अध्ययन हैं- ऐसा स्पष्ट पाठ है<sup>११</sup>, जबकि समवायांग में ४५ अध्ययन, ऐसा पाठ न होकर ४५ उद्देशन काल हैं, मात्र यही पाठ है। हो सकता है कि समवायांग के रचनाकाल तक वे उद्देशक रहे हों, किंतु आगे चलकर वे अध्ययन कहे जाने लगे हों। यदि समवायांग के काल तक ४५ अध्ययनों की अवधारणा होती, तो समवायांगकार उसका उल्लेख अवश्य करते, क्योंकि समवायांग में अन्य अंग आगमों की चर्चा के प्रसंग में अध्ययनों का स्पष्ट उल्लेख है।

इस सम्बंध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि क्या निमित्तशास्त्र एवं

चमत्कारिक विद्याओं से युक्त कोई प्रश्नव्याकरण बना भी था या यह सब कल्पना की उड़ानें हैं ? यह सत्य है कि प्रश्नव्याकरण की पद संख्या का समवायांग, नंदी, नंदीचूर्णि और धवला में जो उल्लेख है, वह काल्पनिक है। यद्यपि समवायांग और नंदी प्रश्नव्याकरण के पदों की निश्चित संख्या नहीं देते हैं, मात्र संख्यात-शत-सहस्र- ऐसा उल्लेख करते हैं, किंतु नंदीचूर्णि एवं समवायांगवृत्ति<sup>१३</sup> में उसके पदों की संख्या ९२१६००० और धवला<sup>१४</sup> में ९३१६००० बताई गई है, जो मुझे तो काल्पनिक ही अधिक लगती है।

मेरी अवधारणा यह है कि स्थानांग, समवायांग, नंदी, तत्त्वार्थ, राजवार्तिक, धवला एवं जयधवला में प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जिस रूप में उल्लेख है, वह पूर्णतः काल्पनिक चाहे न हो, किंतु उसमें सत्यांश कम और कल्पना का पुट अधिक है। यद्यपि निमित्तशास्त्र के विषय को लेकर कोई प्रश्नव्याकरण अवश्य बना होगा, फिर भी उसमें समवायांग और धवला में वर्णित समग्र विषयवस्तु एवं चमत्कारिक विद्याएं रही होंगी- यह कहना कठिन ही है।

इसी संदर्भ में समवायांग के मूलपाठ 'अद्वागंगुडबाहुअसिमणि खोमआइच्चभासियाणं'<sup>१५</sup> के अर्थ के सम्बंध में भी यहां हमें पुनर्विचार करना होगा। कहीं अद्वाग, अंगुष्ठ, बाहु, असि, मणि, खोम (क्षोम) और आदित्य व्यक्ति तो नहीं है, क्योंकि इनके द्वारा भाषित कहने का क्या अर्थ है ? स्थानांग के विवरण की समीक्षा करते हुए जैसी कि मैंने सम्भावना प्रकट की है कि कहीं अद्वाग-आर्द्रक, बाहु-बाहुक, खोम-सोम नामक ऋषि तो नहीं हैं, क्योंकि ऋषिभाषित में इनके उल्लेख हैं। आदित्य भी कोई ऋषि हो सकते हैं, केवल अंगुष्ठ, असि और मणि- ये तीन नाम अवश्य ऐसे हैं, जिनके व्यक्ति होने की सम्भावना धूमिल है।

इस समग्र चर्चा का फलित तो मात्र यही है कि प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु समय-समय पर बदलती रहती है।

क्या प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु सुरक्षित है ?

यहां यह चर्चा भी महत्त्वपूर्ण है कि क्या प्रश्नव्याकरण के प्रथम और

द्वितीय संस्कारों की विषयवस्तु पूर्णतः नष्ट हो गई है या वह आज भी पूर्णतः या आंशिक रूप में सुरक्षित है।

मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण के प्रथम संस्करण में ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित के नाम से जो सामग्री थी, वह आज भी ऋषिभाषित, ज्ञाताधर्मकथा, सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में बहुत कुछ सुरक्षित है। ऐसा लगता है कि ईस्वी सन् के पूर्व ही उस सामग्री को वहां से अलग कर इसिभासियाइं के नाम से स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में सुरक्षित कर लिया गया था। जैन परम्परा में ऐसे प्रयास अनेक बार हुए हैं, जब चूला या चूलिका के रूप में ग्रंथों में नवीन सामग्री जोड़ी जाती रही अथवा किसी ग्रंथ की सामग्री को निकालकर उससे एक नया ग्रंथ बना दिया। उदाहरण के रूप में, किसी समय निशीथ को आचारांग की चूला के रूप में जोड़ा गया और कालांतर में उसे वहां से अलग कर निशीथ नामक नया ग्रंथ ही बना दिया गया। इसी प्रकार, आचारदशा (दशाश्रुतस्कंध) के आठवें अध्याय (पर्युषणकल्प) की सामग्री से कल्पसूत्र नामक एक नया ग्रंथ ही बना दिया गया। अतः, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि पहले प्रश्नव्याकरण में इसिभासियाइं के अध्याय जुड़े हों और फिर उन अध्ययनों की सामग्री को वहां से अलग कर इसिभासियाइं नामक स्वतंत्र ग्रंथ अस्तित्व में आया हो। मेरा यह कथन निराधार भी नहीं है। प्रथम तो दोनों नामों की साम्यता तो है ही, साथ ही समवायांग में यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि प्रश्नव्याकरण में स्वसमय और परसमय के प्रज्ञापक प्रत्येकबुद्धों के कथन हैं। (पण्हावागणदसासुणं ससमय-परसमय पण्णवय-पत्तेअबुद्ध.... भासियाइं, समवायांग ५४७)। इसिभासियाइं के सम्बंध में यह स्पष्ट मान्यता है कि उसमें प्रत्येकबुद्धों के वचन हैं। मात्र यही नहीं, समवायांग समय- परसमय पण्णवय पत्तेअबुद्ध- अर्थात् स्वसमय और परसमय के प्रज्ञापक प्रत्येकबुद्ध का उल्लेख कर इसकी पुष्टि भी कर देता है कि वे प्रत्येकबुद्ध मात्र जैन परम्परा के नहीं हैं, अपितु अन्य परम्पराओं के भी हैं। इसिभासियाइं में मंखलिगोशाल, देवनारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, उद्दालक आदि से सम्बंधित अध्याय भी इसी तथ्य को सूचित करते हैं। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण का प्राचीनतम अधिकांश भाग आज भी इसिभासियाइं में



तथा कुछ भाग सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्मकथा और उत्तराध्ययन के कुछ अध्यायों के रूप में सुरक्षित है। प्रश्नव्याकरण का इसिभासियाड़ वाला अंश वर्तमान इसिभासियाड़ (ऋषिभाषित), महावीरभासियाड़ में तथा आयरियभासियाड़ का कुछ अंश उत्तराध्ययन के अध्ययनों में सुरक्षित है। ऋषिभाषित के तेत्तलिपुत्र नामक अध्याय की विषय सामग्री ज्ञाताधर्मकथा के १४ वें तेत्तलिपुत्र नामक अध्याय में आज भी उपलब्ध है।

उत्तराध्ययन के अनेक अध्याय प्रश्नव्याकरण के अंश थे, इसकी पुष्टि अनेक आधारों से की जा सकती है। सर्वप्रथम उत्तराध्ययन नाम ही इस तथ्य को सूचित करता है कि यह किसी ग्रंथ के उत्तर-अध्ययनों से बना हुआ ग्रंथ है। इसका तात्पर्य है कि इसकी विषय - सामग्री पूर्व में किसी ग्रंथ का उत्तरवर्ती अंश रही होगी। इस तथ्य की पुष्टि का दूसरा किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा ४ में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि उत्तराध्ययन का कुछ भाग अंग साहित्य से लिया गया है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति की इस गाथा का तात्पर्य यह है कि बंधन और मुक्ति से सम्बंधित जिनभाषित और प्रत्येकबुद्ध के संवादरूप इसके कुछ अध्ययन अंग ग्रंथों से लिए गए हैं। निर्युक्तिकार का यह कथन तीन मुख्य बातों पर प्रकाश डालता है। प्रथम तो यह कि उत्तराध्ययन के जो ३६ अध्ययन हैं, उनमें कुछ जिनभाषित और प्रत्येकबुद्ध के संवादरूप इसके कुछ अध्ययन अंग ग्रंथों से लिए गए हैं। अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि वह अंग-ग्रंथ कौन-सा था, जिससे उत्तराध्ययन के ये भाग लिए गए हैं? कुछ आचार्यों ने दृष्टिवाद से इसके परिषह आदि अध्यायों को लिए जाने की कल्पना की है, किंतु मेरी दृष्टि में इसका कोई आधार नहीं है। इसकी सामग्री उसी ग्रंथ से ली जा सकती है, जिसमें महावीरभाषित और प्रत्येकबुद्धभाषित विषयवस्तु हो। इस प्रकार विषयवस्तु प्रश्नव्याकरण की ही थी, अतः उससे ही इन्हें लिया गया होगा। यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि चाहे उत्तराध्ययन के समस्त अध्ययन तो नहीं, किंतु कुछ अध्ययन तो अवश्य ही महावीर भाषित हैं। एक बार हम उत्तराध्ययन के ३६ वें अध्ययन एवं उसके अंत में दी हुई उस गाथा को, जिसमें उसका महावीरभाषित होना स्वीकार किया गया

है, परवर्ती एवं प्रक्षिप्त मान भी लें, किंतु उसके १८ वें अध्ययन की २४ वीं गाथा, जो न केवल इसी गाथा के समरूप है, अपितु भाषा की दृष्टि से भी उसकी अपेक्षा प्राचीन लगती है- प्रक्षिप्त नहीं कही जा सकती। यदि उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन जिनभाषित एवं कुछ प्रत्येकबुद्धों के संवादरूप हैं, तो हमें यह देखना होगा कि वे किस अंग ग्रंथ के भाग हो सकते हैं। प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु का निर्देश करते हुए स्थानांग, समवायांग और नंदीसूत्र में उसके अध्यायों को महावीरभाषित एवं प्रत्येकबुद्धभाषित कहा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन के अनेक अध्याय पूर्व में प्रश्नव्याकरण के अंश रहे हैं। उत्तराध्ययन के अध्यायों के वक्ता के रूप में देखें, तो स्पष्ट रूप से उनमें नमिपव्ववज्जा कापिलीय, संजयीया आदि जैसे कई अध्ययन प्रत्येकबुद्धों के संवादरूप मिलते हैं, जबकि वित्तयसुत्त, परिषह-विभक्ति, संस्कृत, अकाममरणीय, क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय, दुमपत्रक, बहुश्रुतपूजा जैसे कुछ अध्याय महावीरभाषित हैं और केसी-गौतमीय, गद्दमीय आदि कुछ अध्याय आचार्यभाषित कहे जा सकते हैं। अतः, प्रश्नव्याकरण के प्राचीन संस्कार की विषय- सामग्री से इस उत्तराध्ययन के अनेक अध्यायों का निर्माण हुआ है।

यद्यपि समवायांग एवं नंदीसूत्र में उत्तराध्ययन का नाम आया है, किंतु स्थानांग में कहीं भी उत्तराध्ययन का नामोल्लेख नहीं है। जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं, स्थानांग ही ऐसा प्रथम ग्रंथ है, जो जैन आगम-साहित्य के प्राचीनतम स्वरूप की सूचना देता है। मुझे ऐसा लगता है कि स्थानांग में प्रस्तुत जैन साहित्य-विवरण के पूर्व तक उत्तराध्ययन एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में अस्तित्व में नहीं आया था, अपितु वह प्रश्नव्याकरण के एक भाग के रूप में था।

पुनः, उत्तराध्ययन का महावीरभाषित होना उसे प्रश्नव्याकरण के अधीन मानने से ही सिद्ध हो सकता है। उत्तराध्ययन की विषयवस्तु का निर्देश करते हुए यह भी कहा गया है कि ३६ अपृष्ठ का व्याख्यान करने के पश्चात् ३७ वें प्रधान नामक अध्ययन का वर्णन करते हुए भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु की चर्चा करते हुए उसमें पृष्ठ, अपृष्ठ और पृष्ठापृष्ठ प्रश्नों का विवेचन होना बताया गया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि प्रश्नव्याकरण और

उत्तराध्ययन की समरूपता है और उत्तराध्ययन में अपृष्ट प्रश्नों का व्याकरण है।

हम यह भी सुस्पष्ट रूप से बता चुके हैं कि पूर्व में ऋषिभाषित ही प्रश्नव्याकरण का एक भाग था। ऋषिभाषित को परवर्ती आचार्यों ने प्रत्येकबुद्धभाषित कहा है। उत्तराध्ययन के भी कुछ अध्ययनों को प्रत्येकबुद्धभाषित कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्तराध्ययन एवं ऋषिभाषित एक दूसरे से निकट रूप से सम्बंधित थे और किसी एक ही ग्रंथ के भाग थे। हरिभद्र (८ वीं शती) आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति (८/५) में ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन को एक मानते हैं। तेरहवीं शताब्दी तक भी जैन आचार्यों में ऐसी धारणा चली आ रही थी कि ऋषिभाषित का समावेश उत्तराध्ययन में हो जाता है। जिनप्रभसूरि की विधिमार्गप्रपा में, जो १४ वीं शताब्दी की एक रचना है- स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि कुछ आचार्यों के मत में ऋषिभाषित का अन्तर्भाव उत्तराध्ययन में हो जाता है। यदि हम उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समग्र रूप में एक ग्रंथ मानें, तो ऐसा लगता है कि उस ग्रंथ का पूर्ववर्ती भाग ऋषिभाषित और उत्तरवर्ती भाग उत्तराध्ययन कहा जाता था।

यह तो हुई प्रश्नव्याकरण के प्राचीनतम प्रथम संस्करण की बात। अब यह विचार करना है कि प्रश्नव्याकरण के निमित्तशास्त्र प्रधान दूसरे संस्करण की क्या स्थिति हो सकती है- क्या वह भी किसी रूप में सुरक्षित है ?

जहां तक निमित्तशास्त्र से सम्बंधित प्रश्नव्याकरण के दूसरे संस्करण के अस्तित्व में होने का प्रश्न है- मेरी दृष्टि में वह भी पूर्णतया विलुप्त नहीं हुआ है, अपितु मात्र हुआ यह है कि उसे प्रश्नव्याकरण से पृथक् कर उसके स्थान पर आश्रयद्वार और संवरद्वार नामक नई विषयवस्तु डाल दी गई है। श्री अगरचंदजी नाहटा ने जिनवाणी, दिसम्बर १९८० में प्रकाशित अपने लेख में प्रश्नव्याकरण नामक कुछ अन्य ग्रंथों का संकेत किया है। 'प्रश्नव्याकरणाख्य जयपायड' के नाम से एक ग्रंथ मुनि जिनविजयजी ने सिंघी जैन ग्रंथमाला के ग्रंथ क्रमांक ४३ में संवत् २०१५ में प्रकाशित किया है। यह ग्रंथ एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति के आधार पर प्रकाशित किया गया है। ताड़पत्रीय प्रति खरतरगच्छ के आचार्य शाखा के ज्ञानभण्डार जैसलमेर से प्राप्त हुई थी और यह विक्रम संवत् १३३६ की

लिखी हुई थी। ग्रंथ मूलतः प्राकृत भाषा में है और उसमें ३७८ गाथाएं हैं, जो विद्याश्रम, वाराणसी के पुस्तकालय में है। ग्रंथ का विषय निमित्तशास्त्र से सम्बंधित है। इसी प्रकार, जिनरत्नकोश में भी शांतिनाथ भण्डार खंभात में उपलब्ध जयपाहुड प्रश्नव्याकरण नामक ग्रंथ की सूचना उपलब्ध होती है<sup>१०</sup>, यद्यपि इसकी गाथा संख्या २२८ बताई गई है। एक अन्य प्रश्नव्याकरण नामक ग्रंथ की सूचना हमें नेपाल के महाराजा की लायब्रेरी से प्राप्त होती है। श्री अगरचंदजी नाहटा की सूचना के अनुसार इस ग्रंथ की प्रतिलिपि तेरापन्थ धर्मसंघ के आचार्य मुनिश्री नथमलजी ने प्राप्त कर ली थी। इस लेख के प्रकाशन के पूर्व श्री जौहरीमलजी पारख, रावटी, जोधपुर के सौजन्य से इस ग्रंथ की फोटो कापी पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान को प्राप्त हो गई है। इसे अभी पूरा पढ़ा तो नहीं जा सका है, किंतु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात हुआ कि इसकी मूल गाथाएं तो सिंधी जैन ग्रंथमाला के अंतर्गत प्रकाशित कृति के समान ही हैं, किंतु टीका भिन्न है। इसकी एक अन्य फोटो-कापी लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद से भी प्राप्त हुई है। एक अन्य प्रश्नव्याकरण की सूचना हमें पाटन ज्ञान भण्डार की सूची से प्राप्त होती है। यह ग्रंथ भी चूडामणि नामक टीका के साथ है और टीका का ग्रंथांक २३०० श्लोक परिमाण बताया गया है। यह प्रति भी काफी पुरानी हो सकती है।<sup>१८</sup>

इन सब आधारों से ऐसा लगता है कि प्रश्नव्याकरण का निमित्तशास्त्र से सम्बंधित संस्करण भी पूरी तरह विलुप्त नहीं हुआ होगा, अपितु उसे उससे अलग करके सुरक्षित कर लिया गया हो। यदि कोई विद्वान् इन सब ग्रंथों को लेकर उनकी विषयवस्तु को समवायांग, नंदीसूत्र एवं धवला में प्रश्नव्याकरण की उल्लिखित विषय सामग्री के साथ मिलान करे, तो यह पता चल सकेगा कि प्रश्नव्याकरण नामक जो अन्य ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे प्रश्नव्याकरण के द्वितीय संस्करण के ही अंश हैं या अन्य हैं। यह भी सम्भव है कि समवायांग और नंदी के रचनाकाल में प्रश्नव्याकरण नामक कई ग्रंथ वाचना-भेद से प्रचलित हों और उनमें उन सभी विषयवस्तु को समाहित किया गया हो। इस मान्यता का एक आधार यह है कि ऋषिभाषित, समवायांग, नंदी एवं अनुयोगद्वार में

वागरणगंथा एवं पण्हावागरणाङ्' - ऐसे बहुवचन प्रयोग मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि इस काल में वाचनाभेद से या अन्य रूप में अनेक प्रश्नव्याकरण उपस्थित रहे होंगे।

इन प्रश्नव्याकरणों की संस्कृत टीका सहित ताड़पत्रीय प्रतियां मिलना इस बात की अवश्य सूचक हैं कि ईसा की चौथी-पांचवीं शती में ये ग्रंथ अस्तित्व में थे, क्योंकि नोर्वी-दसवीं शताब्दी में जब इनकी टीकाएं लिखी गईं, तो उसके पूर्व भी ये ग्रंथ अपने मूल रूप में रहे होंगे।

सम्भवतः, ईसा की लगभग दूसरी-तीसरी शताब्दी में प्रश्नव्याकरण में निमित्तशास्त्र सम्बंधी सामग्री जोड़ी गई हो और फिर उसमें से ऋषिभाषित का हिस्सा अलग किया गया और उसे विशिष्ट रूप से एक निमित्तशास्त्र का ग्रंथ बना दिया गया। पुनः, लगभग सातवीं शताब्दी में यह निमित्तशास्त्र वाला हिस्सा अलग किया गया और उसके स्थान पर पांच आश्रव तथा पांच संवरद्वार वाला वर्तमान संस्करण रखा गया। जैसा कि मैंने सूचित किया कि प्रश्नव्याकरण के पूर्व के दो संस्करण भी चाहे उससे पृथक् कर दिए गए हों, किंतु वे ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन और प्रश्नव्याकरण नामक अन्य निमित्तशास्त्र के ग्रंथों के रूप में अपना अस्तित्व रख रहे हैं। आशा है, इस सम्बंध में विद्वद्गर्ग आगे और मन्थन करके किसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा।

**प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित की विषयवस्तु की समरूपता का प्रमाण**

ऋषिभाषित और प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तुओं की एकरूपता का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण हमें ऋषिभाषित के पार्श्व नामक ३१ वें अध्ययन में मिल जाता है। इसमें पार्श्व की दार्शनिक अवधारणाओं की चर्चा है। इस चर्चा के प्रसंग में ग्रंथकार ने स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि व्याकरणप्रभूति ग्रंथों में समाहित इस अध्ययन का ऐसा दूसरा पाठ भी मिलता है। यह मूल पाठ इस प्रकार है-

वागरणगंथाओं पभिति सामित्तं  
इमं अज्झयणं ताव इमो बीओ पाढो दिस्सति १९

इसका तात्पर्य तो यह है कि ऋषिभाषित की विषयवस्तु प्रश्नव्याकरण

में भी समाहित थी। यद्यपि यह एक विवादास्पद प्रश्न होगा कि प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु से ऋषिभाषित का निर्माण हुआ या ऋषिभाषित की विषयवस्तु से प्रश्नव्याकरण का, लेकिन यह सुस्पष्ट है कि किसी समय प्रश्नव्याकरण और ऋषिभाषित की विषयवस्तु समान थी और उनमें कुछ पाठान्तर भी थे, अतः वर्तमान ऋषिभाषित में प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का होना निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है, साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि मूल प्रश्नव्याकरण में पार्श्व आदि प्राचीन अर्हत् ऋषियों के दार्शनिक विचार एवं उपदेश निहित थे। प्रश्नव्याकरण और जयपायड की विषयवस्तु की आंशिक समानता

‘प्रश्नव्याख्याख्य जयपायड’ नामक जिस ग्रंथ का हमने उल्लेख किया है, उसकी विषय सामग्री निमित्तशास्त्र से सम्बंधित है। पुनः, उसमें कर्त्ता ने तीसरी गाथा में ‘पणं जयपायडं वोच्छं’ कहकर के प्रश्नव्याकरण और जयपायड की समरूपता को स्पष्ट किया है।<sup>१०</sup> प्रस्तुत ग्रंथ की इसी गाथा की टीका में ग्रंथ की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसमें ‘नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखजीवनमरण’ आदि सम्बंधी प्रश्न हैं। इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि धवलाकार ने प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का जिस रूप में उल्लेख किया है, उसकी इससे बहुत कुछ समानता है।<sup>११</sup> प्रस्तुत ग्रंथ के विषयों में मुष्टिविभाग प्रकरण, नष्टिका चक्र, संख्या प्रमाण, लाभ प्रकरण, अस्त्रविभाग प्रकरण आदि ऐसे हैं, जिनकी विषयवस्तु समवायांग में प्रश्नव्याकरण के वर्णित विषयों से यत्किंचित् समान हो सकती है।<sup>१२</sup> दुर्भाग्य यह है कि प्रकाशित होते हुए भी विद्वानों को इस ग्रंथ की जानकारी नहीं है। यह जैन निमित्तशास्त्र का प्राचीन एवं प्रमुख ग्रंथ है।

ग्रंथ की भाषा को देखकर सामान्यतया यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ईस्वी सन् की चौथी-पांचवीं शताब्दी की हो सकती है। ग्रंथ के लिए प्रयुक्त पायड या पाहुड शब्द से भी यह फलित होता है कि यह ग्रंथ लगभग पांचवीं शताब्दी के आसपास की रचना होना चाहिए, क्योंकि कसायपाहुड एवं कुन्दकुन्द के पाहुड ग्रंथ इसी कालावधि के कुछ पूर्व की रचनाएं हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में भी विषयों का वर्गीकरण पाहुडों के रूप में हुआ है। अतः, यह सम्भावना हो

सकती है कि जयपायड प्रश्नव्याकरण के द्वितीय संस्करण का कोई रूप हो, यद्यपि इस सम्बंध में अंतिम रूप से तभी कुछ कहा जा सकता है, जब प्रश्नव्याकरण के नाम से मिलने वाली सभी रचनाएं हमारे समक्ष उपस्थित हों और इनका प्रामाणिक रूप से अध्ययन किया जाए।

**विषय -सामग्री में परिवर्तन क्यों ?**

यद्यपि यहां यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि प्रथम ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित आदि भाग को हटाकर उसमें निमित्तशास्त्र सम्बंधी विवरण रखना और फिर निमित्तशास्त्र सम्बंधी विवरण हटाकर आश्रवद्वार और संवरद्वार सम्बंधी विवरण रखना- यह सब क्यों हुआ ? सर्वप्रथम ऋषिभाषित आदि भाग क्यों हटाया गया ? मेरी दृष्टि में इसका कारण यह है कि ऋषिभाषित में अधिकांशतः अजैन परम्परा के ऋषियों के उपदेश एवं विचार संकलित थे, इसके पठन-पाठन से एक उदार दृष्टिकोण का विकास तो होता था, किंतु जैनधर्म संघ के प्रति अटूट श्रद्धा खंडित होती थी तथा परिणामस्वरूप संघीय व्यवस्था के लिए अपेक्षित धार्मिक कट्टरता और आस्था टिक नहीं पाती थी। इससे धर्मसंघ को खतरा था। पुनः, यह युग चमत्कारों द्वारा लोगों को अपने धर्मसंघ के प्रति आकर्षित करने और उनकी धार्मिक श्रद्धा को दृढ़ करने का था, चूंकि तत्कालीन जैन परम्परा के साहित्य में इसका अभाव था, अतः उसे जोड़ना जरूरी था। समवायांग में प्रश्नव्याकरण सम्बंधी जो विवरण उपलब्ध हैं, उससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है- उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि लोगों को जिनप्रवचन में स्थित करने के लिए, उनकी मति को विस्मृत करने के लिए, सर्वज्ञ के वचनों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए इसमें महाप्रश्नविद्या, मनःप्रश्नविद्या, देवप्रयाग आदि का उल्लेख किया गया है। यद्यपि यह आश्चर्यजनक है कि एक ओर निमित्तशास्त्र को पापसूत्र कहा गया, किंतु संघहित के लिए दूसरी ओर उसे अंग आगम में सम्मिलित कर लिया गया, क्योंकि जब तक उसे अंग साहित्य का भाग बनाकर जिनप्रणीत नहीं कहा जाता, तब तक लोगों की आस्था उस पर टिक नहीं पाती और जिनप्रवचन की अतिशयता प्रकट नहीं होती। अतः, प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु में परिवर्तन करने का दोहरा लाभ था, एक ओर

अन्यतीर्थिक ऋषियों के वचनों को उससे अलग किया जा सकता था और दूसरी ओर उसमें निमित्तशास्त्र सम्बंधी नई सामग्री जोड़कर उसकी प्रामाणिकता को भी सिद्ध किया जा सकता था, किंतु जब परवर्ती आचार्यों ने इसका दुरुपयोग होते देखा होगा और मुनिवर्ग को साधना से विरत होकर इन्हीं नैमित्तिक विद्याओं की उपासना में रत देखा होगा, तो उन्होंने यह नैमित्तिक विद्याओं से युक्त विवरण उससे अलग कर उसमें पांच आश्रवद्वार और पांच संवरद्वार वाला विवरण रख दिया। प्रश्नव्याकरण के टीकाकार अभयदेव एवं ज्ञानविमल ने भी विषय-परिवर्तन के लिए यही तर्क स्वीकार किया है।<sup>२३</sup>

प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु कब उससे अलग कर दी गई और उसके स्थान पर पांच आश्रवद्वार और पांच संवरद्वार-रूप नवीन विषयवस्तु रख दी गई, यह प्रश्न भी विचारणीय है। अभयदेवसरि ने अपनी स्थानांग और समवायांग की टीका में भी यह स्पष्ट निर्देश किया है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण में इनमें सूचित विषयवस्तु उपलब्ध नहीं है।<sup>२४</sup> मात्र यही नहीं, उन्होंने पांच आश्रवद्वार और पांच संवरद्वार वाले वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण पर ही टीका लिखी है, अतः वर्तमान संस्करण की निम्नतम सीमा अभयदेव के काल अर्थात् ईस्वी सन् १०८० से पूर्ववर्ती होना चाहिए। पुनः, अभयदेव ने प्रश्नव्याकरण में एक श्रुतस्कंध है या दो श्रुतस्कंध हैं, इस समस्या को उठाते हुए अपनी वृत्ति की पूर्वपीठिका में अपने से पूर्ववर्ती आचार्य का मत उद्धृत किया है- 'दो सुयसंधा पण्णत्ता आसवदारा य संवरदारा य।' अभयदेव ने पूर्वाचार्य की मान्यता को अस्वीकार भी किया है और यह भी कहा है कि यह दो श्रुतस्कंधों की मान्यता रूढ़ नहीं है। सम्भवतः, उन्होंने अपना एक श्रुतस्कंध सम्बंधी मत समवायांग और नंदी के आधार पर बनाया हो। इसका अर्थ यह भी है कि अभयदेव के पूर्व भी प्रश्नव्याकरण के वर्तमान संस्करण पर प्राकृत भाषा में ही कोई व्याख्या लिखी गई थी, जिसमें दो श्रुतस्कंध की मान्यता को पुष्ट किया गया था। उसका काल अभयदेव से दूसरी-तीसरी शताब्दी पूर्व अर्थात् ईसा की आठवीं शताब्दी के लगभग अवश्य रहा होगा। पुनः, आचार्य जिनदासगणि महत्तर ने नंदीसूत्र पर शक संवत् ५९८ अर्थात् ईस्वी सन् ६७६ में अपनी चर्णि समाप्त की थी।<sup>२५</sup> उस



चूर्णि में उन्होंने प्रश्नव्याकरण में पंचसंवरादि की व्याख्या होने का स्पष्ट निर्देश किया है।<sup>२६</sup> इससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि ईस्वी सन् ६७६ के पूर्व प्रश्नव्याकरण का पंचसंवरद्वारों से युक्त संस्करण प्रसार में आ गया था, अर्थात् आगमों के लेखनकाल के पश्चात् लगभग सौ वर्ष की अवधि में वर्तमान प्रश्नव्याकरण अस्तित्व में अवश्य आ गया था। प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण की प्रथम गाथा, जिसमें 'वोच्छामि' कहकर ग्रंथ के कथन का निश्चय सूचित किया गया है, की रचना शेष सभी अंग आगमों के प्रारम्भिक कथन से बिलकुल भिन्न है। यह पांचवीं-छठवीं शताब्दी में रचित ग्रंथों की प्रथम प्राकृतन गाथा के समान ही है। अतः, प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण का रचनाकाल ईसा की छठवीं शताब्दी माना जा सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह प्रश्नव्याकरण, जिसमें उसकी विषयवस्तु ऋषिभाषित की विषयवस्तु के समरूप थी, प्राचीनतम संस्करण है, जो लगभग ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की रचना होगी, फिर ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में उसमें निमित्तशास्त्र सम्बंधी विवरण जुड़े, जिनकी सूचना उसके स्थानांग के विवरण से मिलती है। इसके पश्चात् ईसा की चौथी शताब्दी में ऋषिभाषित आदि भाग अलग किए गए और उसे निमित्तशास्त्र का ग्रंथ बना दिया, समवायांग का विवरण इसका साक्षी है। इस काल में प्रश्नव्याकरण के नाम से वाचनाभेद से अनेक ग्रंथ अस्तित्व में थे, ऐसी भी सूचना हमें आगम साहित्य से मिल जाती है। लगभग ईसा की छठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इन ग्रंथों के स्थान पर वर्तमान प्रश्नव्याकरण-सूत्र का आश्रव एवं संवर के विवेचन से युक्त वह संस्करण अस्तित्व में आया है, जो वर्तमान में हमें उपलब्ध है। यह प्रश्नव्याकरण का अंतिम संस्करण है। जहां तक प्रश्नव्याकरण के उपर्युक्त दो प्राचीन लुप्त संस्करणों की विषयवस्तु का प्रश्न है, उसमें से प्रथम संस्करण की विषयवस्तु अधिकांश रूप से एवं कुछ परिवर्तनों के साथ वर्तमान में उपलब्ध ऋषिभाषित (इसिभासियाड़), उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग एवं ज्ञाताधर्मकथा में समाहित है। द्वितीय निमित्तशास्त्र सम्बंधी संस्करण की विषयवस्तु, जयपायड और प्रश्नव्याकरण के नाम से उपलब्ध अन्य निमित्तशास्त्रों के ग्रंथों में हो सकती

है। यद्यपि इस सम्बन्ध में विशेषरूप से शोध की आवश्यकता है। आशा है विद्वद्जन इस दिशा में ध्यान देंगे।

-----

संदर्भ -

१. पणहावागरणेसु अट्टत्तरं पसिणसयं अट्टत्तरं अपसिणसयं अट्टत्तरं पसिणापसिणसयं विज्जाइसया नाग-सुवन्नेहिं सिद्धं दिव्व संवाया आघविज्जंति। - समवायांगसूत्र, ५४६
२. वागरणगंथाओ पभिति.....। -इसिभासियाइं-३१
३. पाणहावागरणदसाणं दस अज्झयणा पणत्ता, तं जहां-उवमा, संख, इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं, महावीरभासियाइं, खोमगपसिणइं, कोमलपसिणाइं, अदागपसिणाइं, अंगुट्टपसिणाइं, बाहुपसिणाइं। - स्थानांगसूत्र, १०/११६
४. से किं तं पणहावागरणाणि ? पणहावागरणेसु अट्टत्तरं पसिणसयं अट्टत्तरं अपसिणसयं, अट्टत्तरं सिणापसिणसयं विज्जाइसया नाग-सुवन्नेहिं सिद्धं दिव्वा संवाया आघविज्जंति।
५. पणहावागरणदसासु णं ससमय-परसमयं पणवय-पत्तेअबुद्ध-विविहत्थभासा-भासियाणं अइसयगुण-उवसम-णाणप्पगार-आयरियभासियाणं वित्थेणं, वीरमहेसीहिं विविहवित्थरभासियाणं च जगहियाणं अदागंगुट्ट-बाहु-असि -मणि-खोम- आइच्चभासियाणं विविहमहापसिणविज्जा -मणपसिणविज्जा-देवयपयोग- पहाण - गुणप्पगासियाणं सबभूयदुगुणप्पभाव - नरगणमइविमहयकराणं अइसयमईयकालसमय -दम-सम-तित्थकरुत्तमस्स ठिइकरणकाराणं दुरहिगम-दुरवगाहस्स सव्वसव्वनुसम्मअस्स अबुह-जण - विबोहणकरस्स पच्चक्खयपच्चयकराणं पणहाणं विविहगुणमहत्था जिणवरप्पणीया आघविज्जंति।

पणहावागरणेषु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ।

से णं अंगट्टयाए दसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाणि पयसयसहस्साणि पयगोणं पण्णत्ताइं। संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासया कडा णिबद्धा णिकाइया जिणपण्णता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परुविज्जंति निंदसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवं आया, से एवं गाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणया आघविज्जंति। से त्तं पणहावागरणाइं १०। - समवायांगसूत्र, ५४६-५४९।

६. से किं त्तं पणहावागरणाइं ? पणहावागरणेषु णं-अट्टुत्तरं पसिणसयं, अट्टुत्तरं अपसिणसयं, अट्टुत्तरं पसिणापणिसयं, तंजहा-अंगुट्टपसिणाइं, बाहुपसिणाइं अद्दागपसिणाइं, अन्नेवि विचित्ता विज्जाइसया, नाग-सुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जन्ति।

पणहावागरणाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ, निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ, संगहणीओ, संखेज्जाओ, पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्टयाए दसवमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयगोणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणन्ता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति, पण्णविज्जन्ति, परूविज्जन्ति, दंसिज्जन्ति, निंदसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति।

से एवं आया, एवं नाया एवं विण्णाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जई, स त्तं पणहावागरणाइं। - नंदीसूत्र, ५४

७. आक्षेपविक्षेपैहेतुनयाश्रितानां प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्,

तस्मिँल्लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णयः।

- तत्त्वार्थवार्तिक, १/२० (पृ.७३-७४)

८. अक्खेवणी विक्खेवणी संवेयणी णिव्वेयणी चेदि चउव्विहाओ  
कहाओ वण्णेदि तत्थ अक्खेवणी नाम छद्दव्व-णव पयत्थाणं सरूवं  
दिगंतरसमयांतर-णिराकरणं मुद्धिं करेती परूवेदि।

विक्खेवणी णाम परसमएण ससमय दूसंती पच्छा दिगंतरसुद्धिं  
करेती ससमयं थावंती छद्दव्वा-णवपयत्थे परूवेदि।

संवेयणी णाम पुण्णफलसंकहा। काणि पुण्णफलाणि ?

तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्टि-बलदेव-सुर-विज्जाहरिद्धीओ।

णिव्वेयणी णाम पावफलसंकहा। काणि पावफलाणि ? णिरय-  
तिरिय-कुमाणुसुजोणीसु, जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-  
दालिद्दादीणि। संसारसररभोगेसु वेरग्गुप्पाहणी णिव्वेयणीणा .....।

पण्हाओ हद-नट्ट-मुट्टि-चिंता-लाहालाह-सुह-दुक्ख-जीविय -  
मरण-जय-पराजय-णाम-दव्वासु-संखं च परूवेदि।

- धवला, पुस्तक १, भाग १, पृ. १०७-८

९. वागरणगंथाओ पभिति जाव सामित्तं इमं अज्झयणं ताव इमो  
बीओ पाढो दिस्सति, तंजहा:

- इसिभासियाइं. अध्याय ३१

१०. नवविहे पावसुयपसंगे पण्णत्ते, तं जहा-

उप्पाए, नेमित्तए, मत्ते, आइक्खए, तिगिच्छीए।

कलावरण-अत्राणे, मिच्छापावयणत्तियां - स्थानांग, स्थान ९

११. पत्तेयबुद्धमिसिणो बीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।

पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स।।

- इसिभासियाइं, पढमा संग्रहणी, गाथा, १

१२. चोयलीसं अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुया भासिया पण्णत्ता।

- समवायांगसूत्र, ४४/२५८

१३. अंगट्ठाए दसमे अंगे, एगे सुअखंधे, पणयालीसं अज्झयणा।

- नंदीसूत्र-५४

१४. (क) पंदगं बाणउतिलक्खा सोलस य सहस्सा। - नंदीचूर्णि, पृ. ७०  
 (ख) द्विनवतिलक्षाणि षोडश च सहस्राणी। - समवायांगवृत्ति
१५. पणहवायरणो णाम अंग तेणउदिलक्ख-सोलससहस्सपदेहि।  
 - धवला, भाग १, पृ. १०४
१६. समवायांग, ५४७
१७. समवायांग, ५४७
१८. प्रश्नव्याकरण, जयप्राभृत, (ग्रंथ २२८), जैन ग्रंथावली, पृ. ३५५
- (अ) चूडामणिवृत्ति (ग्रंथ २३००), पाटन केटलोग, भाग १, पृ. ८
- (ब) लीलावती टीका, पाटन केटलोग, भाग १, पृ. ८ एवं इन्ट्रोडक्शन,  
 पृ. ६
- (स) प्रदर्शनज्योतिर्वृत्ति, पाटन केटलोग, भाग १, पृ. ८ एवं इन्ट्रोडक्शन,  
 पृ. ६
- बृहदवृत्तिटिप्पणिका (जैन साहित्य संशोधक, पूना १९,५, क्रमांक  
 ५६०), जैन ग्रंथावली, पृ. ३५५
१९. जिनरत्नकोश, पृ. २७४
२०. इसिभासियाइ (शुब्रिंग) अध्याय ३१, पृ. ६९
२१. महमाहप्पुप्पायं भुवणब्भंतरपवंतं (वत्त) वावारं।  
 अइसयपुण्णं णाणं, पणहं जयपायडं वोच्छं।  
 - प्रश्नव्याकरणाख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम् ३
२२. नष्टमुष्टिचिन्ता - लाभालाभ - सुख - दुःख जीवित-मरणाभिव्यजं  
 कत्वम्।  
 - प्रश्नव्याकरणाख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम्, टीका तुलनीय  
 पणहादो हद-नट्ट-पुट्टि-चिन्ता-लाहालाहसुह-दुक्ख - जीविय-मरण-  
 जथ-णाम-दव्वायु-संखं च परूवेदि।  
 - धवला, भाग १, पृ. १०७-८
२३. प्रश्नव्याकरणाख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम्,  
 प्रकरण १४, १७, २१, ३८

२४. (अ) अतिशयानां पूर्वाचार्यैरेदंयुगीनानामपुष्टा - लम्बनप्रतिषेविरूषा-  
पेक्षयोत्तारितत्वादिति। - प्रश्नव्याकरणवृत्ति (अभयदेव) प्रारम्भ  
(ब) पूर्वाचार्यैरेदंयुगीनपुरूषाणां तथाविधहीनहीनतरपाण्डित्यबल  
बुद्धिवीर्यापेक्षयापुष्टालम्बनमुद्दिश्य प्रश्नादिविधास्थाने पंचाश्रव  
संवररूपं समुत्तारितम्। - प्रश्नव्याकरण टीका (ज्ञानविमल), प्रारम्भ
२५. (अ) प्रश्नानां विद्याविशेषाणां यानि व्याकरणानि तेषां प्रतिपादनपरा  
दशा दशाध्ययनप्रतिबद्धाः ग्रंथपद्धतय इति प्रश्नव्याकरणदशाः।  
अयं च व्युत्पत्त्यर्थोऽस्य पूर्वकालेभूत्। इदानीं त्वाश्रवपंचकसंवरपंचक-  
व्याकृते रेवेहोपलभ्यते। - प्रश्नव्याकरण वृत्ति (अभयदेव), प्रारम्भ  
(ब) प्रश्नाः अंगुष्ठादिप्रश्नविद्या व्याक्रियन्ते अभिधीयन्ते अस्मिन्निति  
प्रश्नव्याकरणम् एतादृशं पूर्वकालेऽभूत् इदानीं तु आश्रव-संवर-  
पंचकव्याकृतिरेव लभ्यते।  
- प्रश्नव्याकरण टीका (ज्ञानविमल) प्रारम्भ
२६. शकराज्ञो पंचसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतेषु नद्यध्ययनचूर्णी  
समाप्ता।। - नंदीचूर्णि (प्राकृत-टेक्स्ट-सोसायटी)  
पाठान्तर-सकराक्रान्तेषु पंचसु वर्षशतेषु नद्यध्ययनचूर्णी समाप्ता।।  
- नंदीचूर्णि (ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम)
२७. तम्हि पण्हावागरणे अंगे पंचासवदांराइं वा व्याख्येयाः  
परप्पवादिणो य। - णंदीसुत्तचूर्णि, पृ. ६९

## जैन, बौद्ध और औपनिषदिक ऋषियों के उपदेशों का प्राचीनतम संकलन : ऋषिभाषित

जैन आगम-साहित्य में ऋषिभाषित का स्थान

ऋषिभाषित-(इसिभासियाइं) अर्द्धमागधी जैन आगम-साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रंथ है। वर्तमान में जैन आगमों के वर्गीकरण की जो पद्धति प्रचलित है, उसमें इसे प्रकीर्णक ग्रंथों के अंतर्गत वर्गीकृत किया जाता है। दिगम्बर परम्परा में १२ अंग और १४ अंगबाह्य माने गए हैं, किंतु उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर जैन परम्परा में स्थानकवासी और तेरापंथी, जो ३२ आगम मानते हैं, उनमें भी ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, २ चूलिकासूत्र और १० प्रकीर्णक- ऐसे जो ४५ आगम माने जाते हैं, उनमें भी १० प्रकीर्णकों में हमें कहीं ऋषिभाषित का नाम नहीं मिलता। यद्यपि नंदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में जो कालिकसूत्रों की गणना की गई है, उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख है।<sup>१</sup> आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य ग्रंथों की जो सूची दी है, उसमें सर्वप्रथम सामायिक आदि ६ ग्रंथों का उल्लेख है और उसके पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा (आचारदशा), कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित का उल्लेख है।<sup>२</sup> हरिभद्र आवश्यकनिर्यक्ति की वृत्ति में एक स्थान पर इसका उल्लेख उत्तराध्ययन के साथ करते हैं<sup>३</sup> और दूसरे स्थान पर 'देविंदथय' नामक प्रकीर्णक के साथ।<sup>४</sup> हरिभद्र के इस भ्रम का कारण यह हो सकता है कि उनके सामने ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) के साथ-साथ ऋषिमण्डलस्तव (इसिमण्डलथउ) नामक ग्रंथ भी था, जिसका उल्लेख आचारांगचूर्णि में है और उनका उद्देश्य ऋषिभाषित को उत्तराध्ययन के साथ और ऋषिमण्डलस्तव को 'देविंदथय के साथ जोड़ने का होगा। यह भी स्मरणीय है कि इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) में न केवल ऋषिभाषित के अनेक ऋषियों का उल्लेख है, अपितु इसिभासियाइं में उनके जो उपदेश और अध्याय हैं, उनका भी संकेत है। इससे यह भी निश्चित होता है कि इसिमण्डल का कर्ता ऋषिभाषित से अवगत था।

मात्र यही नहीं, ऋषिमण्डल में तो क्रम और नामभेद के साथ ऋषिभाषित के लगभग सभी ऋषियों का भी उल्लेख मिलता है। इसिमण्डल का उल्लेख आचारांगचूर्णि 'इसिणामकित्तणं इसिमण्डलत्थउ' (पृ. ३७४) में होने से यह निश्चित ही उसके पूर्व (सातवीं शती) का ग्रंथ है। विद्वानों को इस सम्बंध में विशेष रूप से चिंतन करना चाहिए। इसिमण्डल के सम्बंध में यह मान्यता है कि वह तपागच्छ के धर्मघोषसूरि की रचना है, किंतु यह धारणा मुझे भ्रांत प्रतीत होती है, क्योंकि ये १४ वीं शती के आचार्य हैं। वस्तुतः, इसिमण्डल की भाषा से भी ऐसा लगता है कि यह प्राचीन ग्रंथ है और इसका लेखक ऋषिभाषित का ज्ञाता है। आचार्य जिनप्रभ ने विधिमार्गप्रपा में तप आराधना के साथ आगमों के स्वाध्याय की जिस विधि का वर्णन किया है, उसमें प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित का उल्लेख करके प्रकीर्णक अध्ययन क्रम विधि को समाप्त किया है। उन्होंने जिन प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है, उनमें ऋषिभाषित भी समाहित है।<sup>६</sup> इस प्रकार, वर्गीकरण की प्रचलित पद्धति में ऋषिभाषित की गणना प्रकीर्णक सूत्रों में की जा सकती है।

प्राचीनकाल में जैन परम्परा में इसे एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता था। आवश्यकनिर्युक्ति में भद्रबाहु ऋषिभाषित पर भी निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं<sup>७</sup>, वर्तमान में यह निर्युक्ति उपलब्ध नहीं होती है। आज तो यह कहना भी कठिन है कि यह निर्युक्ति लिखी गई थी या नहीं, यद्यपि 'इसिमण्डल', जिसका उल्लेख आचारांगचूर्णि में है, इससे सम्बंधित अवश्य प्रतीत होता है। इन सबसे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि ऋषिभाषित एक समय तक जैन परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रहा है। स्थानांग में इसका उल्लेख प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में हुआ है।<sup>८</sup> समवायांग इसके ४४ अध्ययनों का उल्लेख करता है। 'नंदीसूत्र, पाक्षिकसूत्र आदि में इसकी गणना कालिकसूत्रों में की गई है। आवश्यकनिर्युक्ति इसे धर्मकथानुयोग का ग्रंथ कहती है (आवश्यकनिर्युक्ति-हारिभद्रीयवृत्ति, पृ. २०६)। ...ऋषिभाषित का रचनाक्रम एवं काल... यह ग्रंथ अपनी भाषा, छन्दयोजना और विषयवस्तु की दृष्टि से अर्द्धमागधी जैन आगम ग्रंथों में अतिप्राचीन है। मेरी दृष्टि में यह ग्रंथ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध से



किंचित् परवर्ती तथा सूत्रकृतांग उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम ग्रंथों की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। इतना सुनिश्चित है कि इसकी छन्दयोजना, शैली एवं भाषा अत्यंत प्राचीन है। मेरी दृष्टि में इसक वर्तमान स्वरूप भी किसी भी स्थिति में ईसा पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होता है। स्थानांग में प्राप्त सूचना के अनुसार यह ग्रंथ प्रारम्भ में प्रश्नव्याकरणदशा का एक भाग था, स्थानांग में प्रश्नव्याकरणदशा की जो दस दशाएं वर्णित हैं, उनमें ऋषिभाषित का भी उल्लेख है। समवायांग इसके ४४ अध्ययन होने की भी सूचना देता है, अतः यह इनका पूर्ववर्ती तो अवश्य ही है। सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, रामपुत्र, असितदेवल, द्वैपायन, पराशर आदि ऋषियों का एवं उनकी आचारगत मान्यताओं का किंचित् निर्देश है। इन्हें तपोधन और महापुरुष कहा गया है। उसमें कहा गया है कि ये पूर्व ऋषि इस (आर्हत प्रवचन) में 'सम्मत' माने गए हैं। इन्होंने (सचित्त) बीज और पानी का सेवन करके भी मोक्ष प्राप्त किया था। अतः, पहला प्रश्न यही उठता है कि इन्हें सम्मानित रूप में जैन परम्परा में सूत्रकृतांग के पहले किस ग्रंथ में स्वीकार किया गया है। मेरी दृष्टि में केवल ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें इन्हें सम्मानित रूप से स्वीकार किया गया। सूत्रकृतांग की गाथा का 'इह-सम्मता' शब्द स्वयं सूत्रकृतांग की अपेक्षा ऋषिभाषित के पूर्व अस्तित्व की सूचना देता है। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित- दोनों में जैनतर परम्परा के अनेक ऋषियों, यथा असितदेवल, बाहुक आदि का सम्मानित रूप में उल्लेख किया गया है। यद्यपि दोनों की भाषा एवं शैली भी मुख्यतः पद्यात्मक ही है, फिर भी भाषा के दृष्टिकोण से विचार करने पर सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध की भाषा भी ऋषिभाषित की अपेक्षा परवर्ती काल की लगती है, क्योंकि उसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत के निकट है, जबकि ऋषिभाषित की भाषा कुछ परवर्ती परिवर्तन को छोड़कर प्राचीन अर्द्धमागधी है। पुनः, जहां सूत्रकृतांग में इतर दार्शनिक मान्यताओं की समालोचना की गई है, वहां ऋषिभाषित में इतर परम्परा के ऋषियों का सम्मानित रूप में ही उल्लेख हुआ है। यह सुनिश्चित सत्य है कि यह ग्रंथ जैनधर्म एवं संघ के सुव्यवस्थित होने के पूर्व लिखा गया था। इस ग्रंथ के अध्ययन से यह भी स्पष्ट

रूप से प्रतीत होता है कि इसके रचनाकाल तक जैन संघ में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का पूर्णतः अभाव था। मंखलिगोशालक और उसकी मान्यताओं का उल्लेख हमें जैन आगम सूत्रकृतांग<sup>१०</sup>, भगवती<sup>११</sup> और उपासकदशांग<sup>१२</sup> में और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, दीघनिकाय के सामज्जप्लसुत्त<sup>१३</sup> आदि में मिलता है। सूत्रकृतांग में यद्यपि स्पष्टतः मंखलिगोशालक का उल्लेख नहीं है, किंतु उसके आर्द्रक नामक अध्ययन में नियतिवाद की समालोचना अवश्य है। यदि हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश के विकास की दृष्टि से विचार करें, तो भगवती का मंखलिगोशालक वाला प्रकरण सूत्रकृतांग और उपासकदशांग की अपेक्षा भी पर्याप्त परवर्ती सिद्ध होगा। सूत्रकृतांग, उपासकदशांग और पालित्रिपिटक के अनेक ग्रंथ मंखलिगोशालक के नियतिवाद को प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते हैं, फिर भी जैन आगम ग्रंथों की अपेक्षा सुत्तनिपात में मंखलिगोशालक की गणना बुद्ध के समकालीन छः तीर्थकरों में करके उनके महत्त्व और प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन अवश्य किया गया है<sup>१४</sup>, किंतु पालित्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रंथ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी ऋषिभाषित में उसे अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है। अतः, धार्मिक उदारता की दृष्टि से ऋषिभाषित की रचना पालित्रिपिटक की अपेक्षा भी प्राचीन है, क्योंकि किसी भी धर्मसंघ के सुव्यवस्थित होने के पश्चात् ही उसमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश का विकास हो पाता है। ऋषिभाषित स्पष्ट रूप से यह सूचित करता है कि उसकी रचना जैन-परम्परा के साम्प्रदायिक अभिनिवेश आने के बहुत पूर्व हो चुकी थी। केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को छोड़कर शेष सभी जैन आगम-ग्रंथों में यह धार्मिक अभिनिवेश न्यूनाधिक रूप में अवश्य परिलक्षित होता है, अतः ऋषिभाषित केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को छोड़कर शेष सभी जैनागमों से प्राचीन सिद्ध होता है। भाषा, छन्दयोजना आदि की दृष्टि से भी यह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के मध्य में ही सिद्ध होता है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में प्राचीनतम ग्रंथ सुत्तनिपात है<sup>१५</sup>, किंतु उसमें भी वह उदारता नहीं है, जो ऋषिभाषित में है। त्रिपिटक साहित्य में ऋषिभाषित

में उल्लिखित कुछ ऋषियों, यथा- नारद, <sup>१६</sup> असितदेवल, <sup>१७</sup> पिंग, <sup>१८</sup> मंखलिपुत्र, <sup>१९</sup> संजय <sup>२०</sup> (वेलट्टिपुत्त), वर्द्धमान <sup>२१</sup> (निग्गथं नातपुत्त), कुम्मापुत्त <sup>२२</sup> आदि के उल्लेख हैं, किंतु इन सभी को बुद्ध से निम्न ही बताया गया है। दूसरे शब्दों में, वे ग्रंथ साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त नहीं हैं, अतः यह उनका भी पूर्ववर्ती ही है। ऋषिभाषित में उल्लिखित अनेक गाथांश और गाथाएं भाव, भाषा और शब्दयोजना की दृष्टि से जैन परम्परा के सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन ग्रंथों में पाई जाती है, अतः उनकी रचना-शैली की अपेक्षा भी यह पूर्ववर्ती ही सिद्ध होता है। यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि यह भी सम्भव है कि ये गाथाएं एवं विचार बौद्धग्रंथ सुत्तनिपात एवं जैनग्रंथ उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक से ऋषिभाषित में गए हैं, किंतु यह बात इसलिए समुचित नहीं है कि प्रथम तो ऋषिभाषित की भाषा, छन्द-योजना आदि इन ग्रंथों की अपेक्षा प्राचीनकाल की है और आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध तथा सुत्तनिपात के अधिक निकट है। दूसरे, जहां ऋषिभाषित में इन विचारों को अन्य परम्पराओं के ऋषियों के सामान्य सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया गया है, वहां बौद्ध त्रिपिटक साहित्य और जैन साहित्य में इन्हें अपनी परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के रूप में, आध्यात्मिक कृषि की चर्चा ऋषिभाषित <sup>२३</sup> में दो बार और सुत्तनिपात <sup>२४</sup> में एक बार हुई है, किंतु जहां सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि मैं इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करता हूं, वहां ऋषिभाषित का ऋषि कहता है कि जो भी इस प्रकार की कृषि करेगा, वह चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, मुक्त होगा। अतः, ऋषिभाषित आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को छोड़कर जैन और बौद्ध परम्परा के अन्य ग्रंथों की अपेक्षा प्राचीन ही सिद्ध होता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हम यह भी पाते हैं कि ऋषिभाषित में अर्द्धमागधी प्राकृत का प्राचीनतम रूप बहुत कुछ सुरक्षित है। उदाहरण के रूप में, ऋषिभाषित में आत्मा के लिए 'आता' का प्रयोग हुआ है, जबकि जैन आगम साहित्य में भी अत्ता, अप्पा, आदा, आया आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है, जो कि परवर्ती प्रयोग है। 'त' व्यंजन की बहुलता निश्चित रूप से इस ग्रंथ

को उत्तराध्ययन की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध करती है, क्योंकि उत्तराध्ययन की भाषा में 'त' के लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऋषिभाषित में जाणति, परितप्पति, गच्छती, विज्जती, वट्ठती, पवत्तती आदि रूपों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा और विषयवस्तु- दोनों की ही दृष्टि से यह एक पूर्ववर्ती ग्रंथ है। अगंधन कुल के सर्प का रूपक हमें उत्तराध्ययन <sup>२५</sup>, दशवैकालिक <sup>२६</sup> और ऋषिभाषित <sup>२७</sup> -तीनों में मिलता है, किंतु तीनों स्थानों के उल्लेखों को देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि ऋषिभाषित का यह उल्लेख उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन है, क्योंकि ऋषिभाषित में मुनि को अपने पथ से विचलित न होने के लिए इसका मात्र एक रूपक के रूप में प्रयोग हुआ है, जबकि दशवैकालिक और उत्तराध्ययन में यह रूपक राजमती और रथनेमि की कथा के साथ जोड़ा गया है। इसी प्रकार, आध्यात्मिक कृषि का रूपक ऋषिभाषित के अध्याय २६ एवं ३२ में और सुत्तनिपात अध्याय ४ में है, किंतु सुत्तनिपात में जहां बुद्ध स्वयं कहते हैं कि मैं कृषि करता हूं, वहां ऋषिभाषित में वह एक सामान्य उपदेश है, जिसके अंत में यह कहा गया है कि जो इस प्रकार की कृषि करता है, वह सिद्ध (सिज्जंति) होता है, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो<sup>२८</sup>, अतः ऋषिभाषित सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक की अपेक्षा प्राचीन है। इस प्रकार, ऋषिभाषित आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध का परवर्ती और शेष सभी अर्द्धमागधी आगम-साहित्य का पूर्ववर्ती ग्रंथ है। इसी प्रकार, पालित्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रंथ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी प्राचीन होने से यह सम्पूर्ण पालित्रिपिटक से भी पूर्ववर्ती कहा जा सकता है।

जहां तक इसमें वर्णित ऐतिहासिक ऋषियों के उल्लेखों के आधार पर कालनिर्णय करने का प्रश्न है, केवल वज्जीपुत्त को छोड़कर शेष सभी ऋषि महावीर और बुद्ध से या तो पूर्ववर्ती हैं, या उनके समकालिक हैं। पालित्रिपिटक के आधार पर वज्जीयपुत्त (वात्सीयपुत्र) भी बुद्ध के लघुवयस्क समकालीन ही हैं, वे आनंद के निकट थे। वज्जीपुत्रीय सम्प्रदाय भी बुद्ध के निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही अस्तित्व में आ गया था, अतः, इनका बुद्ध के लघुवयस्क

समकालीन होना सिद्ध है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी 'ऋषिभाषित' बुद्ध और महावीर के निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही निर्मित हो गया होगा, यह सम्भव है, इसमें बाद में कुछ परिवर्तन हुआ हो। मेरी दृष्टि में यह इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा ई.पू. पांचवीं शताब्दी और अंतिम सीमा ई.पू. तीसरी शती के बीच ही है, अतः यह इससे अधिक परवर्ती नहीं है। मुझे अंतः और बाह्य साक्ष्यों में कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं मिला, जो इसे इस कालावधि से परवर्ती सिद्ध करे। दार्शनिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर भी हम इसमें न तो जैन सिद्धांतों का और न बौद्ध सिद्धांतों का विकसित रूप पाते हैं, मात्र पंचास्तिकाय और अष्टविध कर्म का निर्देश है। यह भी सम्भव है कि ये अवधारणाएं पाश्चात्त्यों में प्रचलित रही हों और वहीं से महावीर की परम्परा में ग्रहण की गई हों। परिषद, कषाय आदि की अवधारणाएं तो प्राचीन ही हैं। ऋषिभाषित के वात्सीयपुत्र, महाकाश्यप, सारिपुत्र आदि बौद्ध ऋषियों के उपदेश में भी केवल बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धांत संततिवाद, क्षणिकवाद आदि ही मिलते हैं, अतः बौद्ध दृष्टि से भी यह जैनागम एवं पालित्रिपिटक से प्राचीन सिद्ध होता है।

### ऋषिभाषित की रचना

ऋषिभाषित की रचना के सम्बंध में प्रो. शुब्रिंग एवं अन्य विद्वानों का मत है कि यह मूलतः पार्श्व की परम्परा में निर्मित हुआ होगा, क्योंकि उस परम्परा का स्पष्ट प्रभाव प्रथम अध्याय में देखा जाता है, जहां ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक साथ मानकर उसे चातुर्याम की व्यवस्था के अनुरूप ढाला गया है।<sup>१९</sup> पुनः, पार्श्व का विस्तृत अध्याय भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है, दूसरे, इसे पार्श्व की परम्परा का मानने का एक आधार यह भी है कि पार्श्व की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक उदार थी। उसकी अन्य परिव्राजक और श्रमण परम्पराओं से आचार-व्यवहार आदि में भी अधिक निकटता थी। पाश्चात्त्यों के महावीर के संघ में प्रवेश के साथ यह ग्रंथ महावीर की परम्परा में आया और उनकी परम्परा में निर्मित दशाओं में प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में सम्मिलित किया गया।

## ऋषिभाषित का प्रश्नव्याकरण से पृथक्करण

अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्यों पहले तो उसे प्रश्नव्याकरणदशा में डाला गया और बाद में उसे उससे अलग कर दिया गया ? मेरी दृष्टि में पहले तो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक उपदेशों का संकलन होने से इसे अपने आगम-साहित्य में स्थान देने में महावीर की परम्परा के आचार्यों को कोई बाधा प्रतीत नहीं हुई होगी, किंतु जब जैन संघ सुव्यवस्थित हुआ और उसकी अपनी एक परम्परा बन गई, तो अन्य परम्पराओं के ऋषियों को आत्मसात् करना उसके लिए कठिन हो गया। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को अलग करना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु एक उद्देश्यपूर्ण घटना है। यह सम्भव नहीं था कि एक ओर तो सूत्रकृतांग, भगवती <sup>३०</sup> और उपासकदशांग <sup>३१</sup> में मंखलिंगोशालक की तथा ज्ञाताधर्म <sup>३२</sup> में नारद की आलोचना करते हुए उनके चरित्र के हनन का प्रयत्न किया जाए और दूसरी ओर उन्हें अर्हत् ऋषि कहकर उनके उपदेशों को आगम वचन के रूप में सुरक्षित रखा जाए। ईसा की प्रथम शती तक जैनसंघ की श्रद्धा को टिकाए रखने का प्रश्न प्रमुख बन गया था। नारद, मंखलिंगोशालक, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि मानकर उनके वचनों को तीर्थंकर की आगम वाणी के रूप में स्वीकार करना कठिन हो गया था, यद्यपि इसे भी जैन आचार्यों का सौजन्य ही कहा जाना चाहिए कि उन्होंने ऋषिभाषित को प्रश्नव्याकरण से अलग करके भी प्रकीर्णक ग्रंथ के रूप में उसे सुरक्षित रखा, साथ ही उसकी प्रामाणिकता को बनाए रखने के लिए उसे प्रत्येकबुद्धभाषित माना। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश ने इतना अवश्य किया कि उसमें उल्लिखित पार्श्व, वर्द्धमान, मंखलितपुत्र आदि को आगम में वर्णित उन्हीं व्यक्तित्वों से भिन्न कहा जाने लगा।

ऋषिभाषित के ऋषियों को प्रत्येकबुद्ध क्यों कहा गया ?

ऋषिभाषित के मूलपाठ में केतलिपुत्र को ऋषि, अंबड (२५) को परिव्राजक, पिंग (३२), ऋषिगिरि (३४) एवं श्रीगिरि को ब्राह्मण (माहण) परिव्राजक अर्हत् ऋषि, सारिपुत्र को बुद्ध अर्हत् ऋषि तथा शेष सभी को अर्हत् ऋषि के नाम से सम्बोधित किया। उत्कट (उत्कल) नामक अध्ययन में वक्ता के

नाम का उल्लेख ही नहीं है, अतः उसके साथ कोई विशेषण होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यद्यपि ऋषिभाषित के अंत में प्राप्त होने वाली संग्रहणी गाथा में<sup>३३</sup> एवं ऋषिमण्डल<sup>३४</sup> में इन सबको प्रत्येकबुद्ध कहा गया है तथा यह भी उल्लेख है कि इनमें से बीस अरिष्टनेमि के, पन्द्रह पार्श्वनाथ के और शेष महावीर के शासन में हुए, किंतु यह गाथा परवर्ती है और बाद में जोड़ी गई लगती है। मूलपाठ में कहीं भी इनका प्रत्येकबुद्ध के रूप में उल्लेख नहीं है। समवायांग में ऋषिभाषित की चर्चा के प्रसंग में इन्हें मात्र देवलोक के च्युत कहा गया है, प्रत्येकबुद्ध नहीं कहा गया है, यद्यपि समवायांग में ही प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का विवरण देते समय यह कहा गया है कि इसमें स्वसमय और परसमय के प्रवक्ता प्रत्येकबुद्धों के विचारों का संकलन है, क्योंकि ऋषिभाषित प्रश्न व्याकरण का ही एक भाग था। इस प्रकार ऋषिभाषित के ऋषियों को सर्वप्रथम समवायांग में परोक्षरूप से प्रत्येकबुद्ध मान लिया गया था।<sup>३५</sup> यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित के अधिकांश ऋषि जैन-परम्परा के नहीं थे, अतः उनके उपदेशों को मान्य रखने के लिए उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहा गया। संग्रहणीगाथा तो उन्हें स्पष्ट रूप से प्रत्येकबुद्ध कहती ही है। जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया, इन्हें प्रत्येकबुद्ध कहने का प्रयोजन यही था कि इन्हें जैन संघ से पृथक् मानकर भी इनके उपदेशों को प्रामाणिक माना जा सके। जैन और बौद्ध-दोनों परम्पराओं में प्रत्येकबुद्ध वह व्यक्ति है, जो किसी निमित्त से स्वयं प्रबुद्ध होकर एकाकी साधना करते हुए ज्ञान प्राप्त करता है, किंतु न तो वह स्वयं किसी का शिष्य बनता है और न किसी परम्परा या संघ व्यवस्था में आबद्ध होता है, फिर भी वह समाज में आदरणीय होता है और उसके उपदेश प्रामाणिक माने जाते हैं।

### ऋषिभाषित और जैन धर्म के सिद्धांत

ऋषिभाषित का समग्रतः अध्ययन हमें इस सम्बंध में विचार करने को विवश करता है कि क्या ऋषिभाषित में अन्य परम्पराओं के ऋषियों द्वारा उनकी ही अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है अथवा उनके मुख से जैन परम्परा की मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है। प्रथम दृष्टि से देखने पर तो ऐसा भी लगता है कि उनके मुख से जैन मान्यताओं का प्रतिपादन हुआ है।

प्रो. शुब्रिंग और उनके ही आधार पर प्रो. लल्लनजी गोपाल ने प्रत्येक ऋषि के उपदेशों के प्रतिपादन के प्रारम्भिक और अंतिम कथन की एकरूपता के आधार पर यह मान लिया है कि ग्रंथकार ऋषियों के उपदेशों के प्रस्तुतिकरण में प्रामाणिक नहीं हैं। उसने इनके उपदेशों को अपने ही ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अधिकांश अध्यायों में जैन पारिभाषिक पदावली, यथा-पंचमहाव्रत, कषाय, परिषह आदि को देखकर इस कथन में सत्यता परिलक्षित होने लगती है। उदाहरणार्थ- प्रथम, नारद नामक अध्ययन में यद्यपि शौच के चार लक्षण बताए गए हैं, किंतु यह अध्याय जैन परम्परा के चातुर्याम का ही प्रतिपादन करता है। वज्जीयपुत्र नामक द्वितीय अध्याय में कर्म के सिद्धांत की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है। यह अध्याय जीव के कर्मानुगामी होने की धारणा का प्रतिपादन करता है, साथ ही मोह को दुःख का मूल बताता है। यह स्पष्ट करता है कि जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की परम्परा चलती रहती है, उसी प्रकार से मोह से कर्म और कर्म से मोह की परम्परा चलती रहती है और मोह के समाप्त होने पर कर्म-सन्तति ठीक वैसे ही समाप्त होती है, जैसे वृक्ष के मूल को समाप्त करने पर उसके फल-पत्ती अपने आप समाप्त होते हैं। कर्मसिद्धांत की यह अवधारणा ऋषिभाषित के अध्याय १३, १५, २४ और ३० में भी मिलती है। जैन परम्परा में इससे ही मिलता-जुलता विवरण उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्याय से प्राप्त होता है। इसी प्रकार, तीसरे असितदेवल नामक अध्याय में हमें जैन परम्परा और विशेष रूप से आचारांग में उपलब्ध पाप को लेप कहने की बात मिल जाती है। इस अध्याय में हमें पांच महाव्रत, चार कषाय तथा इसी प्रकार हिंसा से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ पापों का उल्लेख भी मिलता है। यह अध्याय मोक्ष के स्वरूप का विवेचन भी करता है और उसे शिव, अतुल, अमल, अव्याघात, अपुनर्भव, अपुनरावर्तन तथा शाश्वत स्थान बताता है। मोक्ष का ऐसा ही स्वरूप हमें जैन-आगम-साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है। पांच महाव्रतों और चार कषायों का विवरण तो ऋषिभाषित के अनेक अध्यायों में आया है। महाकाश्यप नामक नौवें अध्ययन में पुण्य, पाप तथा संवर और निर्जरा की चर्चा उपलब्ध होती है। इसी अध्याय में कषाय का भी उल्लेख



है। नौवें अध्याय में कर्म आदान की मुख्य चर्चा करते हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को बंधन का कारण कहा गया है, जो कि जैन परम्परा के पूर्णतः अनुरूप है। इसमें जैन परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्द, यथा- उपक्रम, बद्ध, स्पृष्ट, निकाचित, निर्जीर्ण, सिद्धि, शैलेषी अवस्था, प्रदेशोदय, विपाकोदय आदि पाए जाते हैं। इस अध्याय में प्रतिपादित आत्मा की नित्यानित्यता की अवधारणा सिद्धावस्था का स्वरूप एवं कर्मबंधन और निर्जरा की प्रक्रिया जैन दर्शन के समान है।

इसी तरह, अनेक अध्यायों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधारणा भी मिलती है। बारहवें याज्ञवल्क्य नामक अध्ययन में जैन परम्परा के अनुरूप गोचरी के स्वरूप में शुद्धैषणा की चर्चा मिल जाती है। आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, यह बात भी पंद्रहवें मधुरायन नामक अध्ययन में की गई है। सत्रहवें विदुर नामक अध्ययन में सावद्ययोग विरति और समभाव की चर्चा है। उन्नीसवें आरियायण नामक अध्याय में आर्यज्ञान, आर्यदर्शन और आर्यचरित्र के रूप में प्रकारान्तर से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चरित्र की ही चर्चा है। बाईसवां अध्याय धर्म के क्षेत्र में पुरुष की प्रधानता की चर्चा करता है तथा नारी की निंदा करता है। इसकी सूत्रकृतांग के इत्थिपरिण्णा नामक अध्ययन से समानता है। तेईसवें रामपुत्त नामक अध्याय में उत्तराध्ययन (२८/३५) के समान ही ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन के द्वारा देखने, संयम के द्वारा निग्रह करने की तथा तप के द्वारा अष्टविध कर्म के विधुनन की बात कही गई है। अष्टविध कर्म की यह चर्चा केवल जैन परम्परा में ही पाई जाती है। पुनः, चौबीसवें अध्याय में भी मोक्षमार्ग के रूप में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की चर्चा है। इसी अध्याय में देव, मनुष्य, तिर्यन्च और नारक-इन चतुर्गतियों की भी चर्चा है। पचीसवें अम्बड नामक अध्याय में चार कषाय, चार विकथा, पांच महाव्रत, तीन गुप्ति, पंच इंद्रिय संयम, छः जीवनिकाय, सात भय, आठ मद, नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य तथा दस प्रकार के समाधिस्थान की चर्चा है। इस प्रकार, इस अध्याय में जैन परम्परा में मान्य अनेक अवधारणाएं एक साथ उपलब्ध हो जाती हैं। इसी अध्याय में आहार करने के छः कारणों की वह चर्चा भी है, जो कि स्थानांग

(स्थान ६) आदि में मिलती है। स्मरण रहे कि यद्यपि जैनागमों में अम्बड को परित्राजक माना है, फिर भी उसे महावीर के प्रति श्रद्धावान् बताया है।<sup>३६</sup> यही कारण है कि इसमें सर्वाधिक जैन अवधारणाएं उपलब्ध हैं। ऋषिभाषित के छब्बीसवें अध्याय में उत्तराध्ययन के पच्चीसवें अध्याय के समान ही ब्राह्मण के स्वरूप की चर्चा है। इसी अध्याय में कषाय, निर्जरा, छः जीवनिकाय और सर्वप्राणियों के प्रति दया का भी उल्लेख है। इकतीसवें पार्श्व नामक अध्ययन में पुनः चातुर्याम, अष्टविध कर्मग्रंथि, चार गति, पंचास्तिकाय तथा मोक्षस्थान के स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। इसी अध्याय में जैन परम्परा के समान जीवों को ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है, किंतु पार्श्व तो जैन परम्परा में मान्य ही हैं, अतः इस अध्याय में जैन अवधारणाएं होनी आश्चर्यजनक नहीं है। अब विद्वानों की यह धारणा भी बनी है कि जैन दर्शन के तत्त्वज्ञान पार्श्वपत्नियों की ही देन हैं। शुब्रिंग ने भी इसिभासियाइं पर पार्श्वपत्नियों का प्रभाव माना है। पुनः, बत्तीसवें पिंग नामक अध्याय में जैन परम्परा के अनुरूप चारों वर्णों की मुक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। चौतीसवें अध्याय में परिषह और उपसर्गों की चर्चा है। इसी अध्याय में पंच महाव्रत से युक्त, कषाय से रहित, छिन्नस्रोत, अनाश्रव भिक्षु की मुक्ति की भी चर्चा है। पुनः, पैंतीसवें उद्दालक नामक अध्याय में तीन गुप्ति, तीन दण्ड, तीन शल्य, चार कषाय, चार विकथा, पांच समिति, पंचेन्द्रियसंयम, योगसंधान एवं नवकोटि परिशुद्ध, दस दोष से रहित विभिन्न कुलों की परकृत, परनिर्दिष्ट, विगतधूम, शस्त्रपरिणत भिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है। इसी अध्याय में संज्ञा एवं बाईस परिषहों का भी उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषिभाषित में अनेक जैन अवधारणाएं उपस्थित हैं, अतः यहां स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या जैन आचार्यों ने ऋषिभाषित का संकलन करते समय अपनी ही अवधारणाओं को इन ऋषियों के मुख से कहलवा दिया अथवा मूलतः ये अवधारणाएं इन ऋषियों की ही थीं और वहां से जैन परम्परा में प्रविष्ट हुईं। यह तो स्पष्ट है कि ऋषिभाषित में उल्लिखित ऋषियों में पार्श्व और महावीर को छोड़कर शेष अन्य सभी या तो स्वतंत्र साधक रहे हैं, या अन्य परम्पराओं के रहे हैं, यद्यपि इनमें कुछ के उल्लेख

उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग में भी हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इसमें जो विचार हैं, वे उन ऋषियों के नहीं हैं, तो ग्रंथ की और ग्रंथकर्ता की प्रामाणिकता खंडित होती है, किंतु दूसरी ओर यह मानना कि ये सभी अवधारणाएं जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं से प्रविष्ट हुई, पूर्णतः संतोषप्रद नहीं लगता है, अतः सर्वप्रथम तो हम यह परीक्षण करने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के उपदेश संकलित हैं, वे उनके अपने हैं, या जैन आचार्यों ने अपनी बात को उनके मुख से कहलवाया है।

### ऋषिभाषित की अवधारणाओं की प्रामाणिकता का प्रश्न

यद्यपि ऋषिभाषित के सभी ऋषियों के उपदेश और तत्सम्बन्धी साहित्य हमें जैनेतर परम्पराओं में उपलब्ध नहीं होता, फिर भी इनमें से कई के विचार और अवधारणाएं आज भी अन्य परम्पराओं में उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य का उल्लेख भी उपनिषदों में है। वज्जीयपुत्र, महाकाश्यप और सारिपुत्र के उल्लेख बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में हैं। इसी प्रकार विदुर, नारायण, असितदेवल आदि के उल्लेख महाभारत एवं हिन्दू परम्परा के अन्य ग्रंथों में मिल जाते हैं। ऋषिभाषित में इनके जो विचार उल्लिखित हैं, उनकी तुलना अन्य स्रोतों से करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के जिन विचारों का उल्लेख किया गया है, उनमें कितनी प्रामाणिकता है। ऋषिभाषित के ग्यारहवें अध्याय में मंखलिपुत्र गोशालक का उपदेश संकलित है। मंखलिपुत्र गोशालक के सम्बन्ध में हमें जैन परम्परा में भगवतीसूत्र और उपासकदशांग में, बौद्ध परम्परा में दीघनिकाय के सामञ्जसमहाफलसुत्त और सुत्तनिपात में तथा हिन्दू परम्परा में महाभारत के शांतिपर्व के १७७ वें अध्याय में मंखी ऋषि के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। तीनों ही स्रोत उसे नियतिवाद का समर्थक बताते हैं। यदि हम ऋषिभाषित अध्याय ११ में वर्णित मंखलिगोशालक के उपदेशों को देखते हैं, तो यहां भी हमें परोक्ष रूप से नियतिवाद के संकेत उपलब्ध हैं। इस अध्याय में कहा गया है कि जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, वेदना का अनुभव करता है, क्षोभित होता है, आहत होता है, स्पंदित होता है, चलायमान होता है, प्रेरित होता है, वह त्यागी नहीं है। इसके विपरीत, जो पदार्थों की परिणति

को देखकर कम्पित नहीं होता है, क्षोभित नहीं होता, दुःखित नहीं होता है, वह त्यागी है। परोक्ष रूप से यह पदार्थों की परिणति के सम्बन्ध में नियतिवाद का प्रतिपादक है। संसार की अपनी एक व्यवस्था और गति है, वह उसी के अनुसार चल रहा है। साधक को उस क्रम का ज्ञाता-दृष्टा तो होना चाहिए, किंतु दृष्टा के रूप में उससे प्रभावित नहीं होना चाहिए। नियतिवाद की मूलभूत आध्यात्मिक शिक्षा यही हो सकती है कि हम संसार के घटनाक्रम से साक्षी भाव से रहें। इस प्रकार, यह अध्याय गोशालक के मूलभूत आध्यात्मिक उपदेश को ही प्रतिबिम्बित करता है। इसके विपरीत, जैन और बौद्ध साहित्य में जो मंखलिगोशालक के सिद्धांत का निरूपण है, वह वस्तुतः गोशालक की इस आध्यात्मिक अवधारणा में निकाला गया एक विकृत दार्शनिक फलित है। वस्तुतः, ऋषिभाषित का रचयिता गोशालक के सिद्धांतों के प्रति जितना प्रामाणिक है, उतने प्रामाणिक त्रिपिटिक और परवर्ती जैन आगमों के रचयिता नहीं हैं।

महाभारत के शांतिपर्व के १७७ वें अध्याय में मंखि ऋषि का उपदेश संकलित है। उसमें एक ओर नियतिवाद का समर्थन है, किंतु दूसरी ओर इसमें वैराग्य का उपदेश भी है। इस अध्याय में मूलतः दृष्टा भाव और संसार के प्रति अनासक्ति का उपदेश है। यह अध्याय नियतिवाद के माध्यम से ही अध्यात्म का उपदेश देता है। इसमें यह बताया गया है कि संसार की अपनी व्यवस्था है, मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भी उसे अपने अनुसार नहीं मोड़ पाता है, अतः व्यक्ति को दृष्टा भाव रखते हुए संसार से विरक्त हो जाना चाहिए। महाभारत के इस अध्याय की विशेषता यह है कि मंखि ऋषि को नियतिवाद का समर्थक मानते हुए भी उस नियतिवाद के माध्यम से उन्हें वैराग्य की दिशा में प्रेरित बताया गया है।

इस आधार पर ऋषिभाषित में मंखलिपुत्र का उपदेश जिस रूप में संकलित मिलता है, वह निश्चित ही प्रामाणिक है।

इसी प्रकार, ऋषिभाषित के अध्याय ९ में महाकश्यप और अध्याय ३८ में सारिपुत्र के उपदेश संकलित हैं। ये दोनों ही बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित रहे हैं। यदि हम ऋषिभाषित में उल्लिखित इनके विचारों को देखते हैं, तो स्पष्ट रूप से इसमें हमें बौद्धधर्म की अवधारणा के मूलतत्त्व परिलक्षित होते हैं। महाकश्यप

अध्याय में सर्वप्रथम संसार की दुःखमयता का चित्रण है। इसमें कर्म को दुःख का मूल कहा गया है और कर्म का मूल जन्म को बताया गया है, जो कि बौद्धों के प्रतीत्य-समुत्पाद का ही एक रूप है। इसी अध्याय में एक विशेषता हमें यह देखने को मिलती है कि इसमें कर्मसिद्धांत को प्रतिपादित करते हुए 'सन्तानवाद' की चर्चा है, जो कि बौद्धों का मूलभूत सिद्धांत है। इस अध्याय में निर्वाण के स्वरूप को समझाने के लिए बौद्ध दर्शन के मूलभूत दीपक वाले उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। पूरा अध्याय सन्तानवाद और कर्मसंस्कारों के माध्यम से वैराग्य का उपदेश प्रदान करता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि इसमें बौद्धधर्म के मूल बीज उपस्थित हैं। इसी प्रकार, अड़तीसवें सारिपुत्त नामक अध्याय में भी बौद्ध धर्म के मूल उत्स मध्यममार्ग का प्रतिपादन मिलता है। उसके साथ बुद्ध के प्रज्ञावाद का भी इसमें प्रतिपादन हुआ है। इस अध्याय में कहा गया है कि मनोज्ञ भोजन, शयनासन का सेवन करते हुए और मनोज्ञ आवास में रहते हुए भिक्षु सुखपूर्वक ध्यान करता है, फिर भी प्राज्ञ पुरुष को सांसारिक पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिए, यही बुद्ध का अनुशासन है। इस प्रकार, यह अध्याय भी बुद्ध के उपदेशों को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार, याज्ञवल्क्य नामक बारहवें अध्याय में भी हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों का प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का उल्लेख हमें उपनिषदों एवं महाभारत में भी मिलता है।<sup>30</sup> उपनिषद् में जहां याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी का संवाद है, वहां उनकी संन्यास की इच्छा को स्पष्ट किया गया है। ऋषिभाषित में भी याज्ञवल्क्य के उपदेश के रूप में लोकैषणा और वित्तैषणा के त्याग की बात कही गई है तथा यह कहा गया है कि जब तक लोकैषणा होती है, तब तक वित्तैषणा होती है और जब वित्तैषणा होती है, तो लोकैषणा होती है, इसलिए लोकैषणा और वित्तैषणा के स्वरूप को जानकर गोपथ से जाना चाहिए, महापथ से नहीं जाना चाहिए। वस्तुतः, ऐसा लगता है कि यहां निवृत्तिमार्ग को गोपथ और प्रवृत्तिमार्ग को महापथ कहा गया है और याज्ञवल्क्य निवृत्तिमार्ग का उपदेश देते प्रतीत होते हैं। यहां सबसे विचारणीय बात यह है कि बौद्धधर्म में जो हीनयान और महायान की अवधारणा का विकास

है, कहीं वह गोपथ और महापथ की अवधारणा का विकसित रूप तो नहीं है। आचारांग में महायान शब्द आया है। महाभारत के शांतिपर्व में भी अध्याय ३१० से लेकर ३१८ तक याज्ञवल्क्य के उपदेशों का संकलन है। इसमें मुख्य रूप से सांख्य और योग की अवधारणा का प्रतिपादन है। ऋषिभाषित के इस अध्याय में मुनि की भिक्षा-विधि की चर्चा है, जो कि जैन परम्परा के अनुरूप ही लगती है। वैसे बृहदारण्यक में भी याज्ञवल्क्य भिक्षाचर्या का उपदेश देते हैं, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित के लेखक ने याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों को विकृत नहीं किया है। ऋषिभाषित के बीसवें उत्कल नामक अध्याय में भौतिकवाद या चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन है। इस अध्याय के उपदेश के रूप में किसी ऋषि का उल्लेख नहीं है, किंतु इतना निश्चित है कि इसमें चार्वाक के विचारों का पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित में वर्द्धमान का जो उपदेश है, उसकी यथार्थ प्रतिच्छाया आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के भावना नामक अध्ययन में एवं उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्याय में यथावत् रूप से उपस्थित है।

उपर्युक्त आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि ऋषिभाषित में ऋषियों के उपदेश को सामान्य रूप से प्रामाणिकतापूर्वक ही प्रस्तुत किया गया है, यद्यपि इसमें मुख्य रूप से उनके आध्यात्मिक और नैतिक विचारों का ही प्रस्तुतिकरण हुआ है और उसके पीछे निहित दर्शन पर इसमें कोई बल नहीं दिया गया है। दूसरे, यह भी सत्य है कि उनका प्रस्तुतिकरण या ग्रंथ-रचना जैन परम्परा के आचार्यों के द्वारा हुई है, अतः यह स्वाभाविक था कि उसमें जैन परम्परा में मान्य कुछ परम्परागत अवधारणाएं प्रतिबिम्बित हो गई हैं। पुनः, इस विश्वास के भी पर्याप्त आधार हैं कि जिन्हें आज हम जैन परम्परा की अवधारणाएं कह रहे हैं, वे मूलतः अन्य परम्पराओं में प्रचलित रही हों और वहां से जैन परम्परा में प्रविष्ट हो गई हों, अतः ऋषिभाषित के ऋषियों के उपदेशों की प्रामाणिकता को पूर्णतः निरस्त नहीं किया जा सकता है। अधिक से अधिक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि उन पर परोक्ष रूप से जैन परम्परा का कुछ प्रभाव आ गया है।

**ऋषिभाषित के ऋषियों की ऐतिहासिकता का प्रश्न**

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि ऋषिभाषित में वर्णित अधिकांश ऋषिगण

जैन परम्परा से सम्बंधित नहीं हैं। उनके कुछ नामों के आगे लगे हुए ब्राह्मण, परिव्राजक आदि शब्द ही उनका जैन परम्परा से भिन्न होना सूचित करते हैं। दूसरे देव नारद, असितदेवल, अंगिरस, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, बाहुक, विदुर, वारिषेणवृष्ण, द्वैपायन, आरुणि, उद्दालक, नारायण ऐसे नाम हैं, जो वैदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध रहे हैं और आज भी उनके उपदेश उपनिषदों, महाभारत एवं पुराणों में सुरक्षित हैं, इनमें से देव नारद, असितदेवल, अंगिरस भारद्वाज, द्वैपायन के उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग, अंतकृद्गशा, औपपातिक आदि जैन-ग्रंथों में तथा बौद्ध त्रिपिटिक साहित्य में भी मिलते हैं। इसी प्रकार वज्जीयपुत्र, महाकश्यप और सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व हैं और उनका उल्लेख त्रिपिटिक साहित्य में उपलब्ध है। मंखलिपुत्र, रामपुत्र, अम्बड (अम्बष्ठ), संजय (वेलट्टिपुत्र) आदि ऐसे नाम हैं, जो स्वतंत्र श्रमण परम्पराओं से सम्बंधित हैं और इनके इस रूप में उल्लेख जैन और बौद्ध परम्पराओं में हमें स्पष्ट रूप से मिलते हैं, उन पर विस्तृत चर्चा प्रो.सी.एस. उपासक ने अपने लेख 'इसिभासियाइं एण्ड पालि बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स : ए स्टडी' में की है। यह लेख पं. दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रंथ में प्रकाशित हुआ है। पार्श्व और वर्द्धमान जैन परम्परा के तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में सुस्पष्ट रूप से मान्य हैं। आर्द्रक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग में है। इसके अतिरिक्त पुष्पशालपुत्र, वल्कलचीरी, कुर्मापुत्र, केतलिपुत्र, तेतलिपुत्र, भयालि, इन्द्रनाग ऐसे नाम हैं, जिनमें अधिकांश का उल्लेख जैन परम्परा के इसिमण्डल एवं अन्य ग्रंथों में मिल जाता है। पुष्पशाल, वल्कलचीरी, कुर्मापुत्र आदि का उल्लेख बौद्ध परम्परा में भी है, किंतु मधुरायण, सोरियायण आर्यायन आदि, जिनका उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त हिन्दू, जैन और बौद्ध परम्परा में अन्यत्र नहीं मिलता है, उन्हें भी पूर्णतया काल्पनिक व्यक्ति नहीं कह सकते। यदि हम ऋषिभाषित के ऋषियों की सम्पूर्ण सूची का अवलोकन करें, तो केवल सोम, यम, वरुण, वायु और वैश्रमण ऐसे नाम हैं, जिन्हें काल्पनिक कहा जा सकता है, किंतु जैन, बौद्ध और वैदिक- तीनों ही परम्पराएं इन्हें भी स्वीकृत करती हैं। महाभारत में वायु का उल्लेख एक ऋषि के रूप में मिलता है। यम को आवश्यकचूर्णि में यमदग्नि ऋषि

का पिता कहा गया है, अतः इस सम्भावना को भी पूरी तरह निरस्त नहीं किया जा सकता है कि यम कोई ऋषि रहे हों। यद्यपि उपनिषदों में भी यम को लोकपाल के रूप में भी चित्रित किया गया है, किंतु इतना ही निश्चित है कि ये एक उपदेष्टा हैं। यम और नचिकेता का संवाद औपनिषदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध ही है। वरुण और वैश्रमण को भी वैदिक परम्परा में मंत्रोपदेष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सम्भव है कि सोम, यम, वरुण, वैश्रमण इस ग्रंथ के रचनाकाल तक एक उपदेष्टा के रूप में लोक परम्परा में मान्य रहे हों और इसी आधार पर इनके उपदेशों का संकलन ऋषिभाषित में कर लिया गया है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यह अवश्य कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के ऋषियों में उपर्युक्त चार-पांच नामों को छोड़कर शेष सभी प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल के यथार्थ व्यक्ति हैं, काल्पनिक चरित्र नहीं हैं।

निष्कर्ष रूप में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि ऋषिभाषित न केवल जैन परम्परा की, अपितु समग्र भारतीय परम्परा की एक अमूल्य निधि है और इसमें भारतीय चेतना की धार्मिक उदारता अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह हमें अधिकांश ज्ञात और कुछ अज्ञात ऋषियों के सम्बंध में और उनके उपदेशों के सम्बंध में महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक सूचनाएं देता है। जैनाचार्यों ने इस निधि को सुरक्षित रखकर भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की बहुमूल्य सेवा की है। वस्तुतः, यह ग्रंथ ईसा पूर्व दसवीं शती से लेकर ईसा पूर्व छठवीं शती तक के अनेक भारतीय ऋषियों की ऐतिहासिक सत्ता का निर्विवाद प्रमाण है।

१. (अ) से किं कालियं ? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं।

तं जहा उत्तरज्झयणाइं १ दसाओ २ कप्पो ३ ववहारो ४ णिसीहं ५  
महानिसीहं ६ इसिभासियाइं ७ जंबुदीवपण्णत्ती ८ दीवसागरपण्णत्ती-



नन्दिसूत्र ८४ (महावीर विद्यालय, बम्बई, १९६८)

(ब) नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअंग बाहिरं कालिअं भगवंतं  
तं जहा-१ उत्तरज्झयणाइं २ दसाओ ३ कप्पो ४ ववहारो ५ इसिभासिआइं  
६ निसीहं ७ महानिसीह---

(ज्ञातव्य है कि पक्खियसुत्त में अंगबाहा ग्रंथों की सूची में २८ उत्कालिक और ३६ कालिक-कुल ६४ ग्रंथों के नाम हैं। इसमें ६ आवश्यक और १२ अंग मिलाने से कुल ८२ की संख्या होती है। लगभग यही सूची विधिमार्गप्रपा में भी उपलब्ध होती है।) -पक्खियसुत्त, पृ.७९, देवचंदलालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सिरीज क्रमांक ९९

२. अंगबाहामनेकविधम्। तद्यथा-सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवः, वन्दनं, प्रतिक्रमणं, कायव्युत्सर्गः, प्रत्याख्यानं, दशवैकालिकं, उत्तराध्यायाः, दशाः, कल्पव्यवहारौ, निशीथं ऋषिभाषितानीत्येवमादि।

- तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (स्वोपज्ञभाष्य) १/२०, (देवचंदलालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड) क्रम-संख्या ६७.

३. तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि-----।

- आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीयवृत्ति, पृ. २०६.

४. ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवादीनां निर्युक्तिं ---। - वही, पृ. ४१

५. इसिभासियाइं पणयालीसं अज्झयणाइं कालियाइं, तेसु दिण ४५ निव्विण्हिं अणागाढजोगो। अण्णे भणंति उत्तरज्झयणेसु चेव एयाइं अंतभवन्ति। -विधिमार्गप्रपा पृ.५८

देविंदत्थयमाई पइण्णगा हों ति इगिगनिविण्ण।

इसिभासियअज्झयणा आयंबलिकालतिसज्झा ॥ ६१ ॥

केसिं चि मए अंतभवन्ति एयाइ उत्तरज्झयणो।

पणयालीस दिणेहिं केसि वि जोगो अण्णगाढो ॥ ६२॥

- विधिमार्गप्रपा, पृ. ६२

(ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णकों की संख्या के सम्बंध में विधिमार्गप्रपा में

भी मतैक्य नहीं है। 'सज्जायपट्टवणाविही' पृ. ४५ पर ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद, ४ मूल एवं २ चूलिकासूत्र के घटाने पर लगभग ३१ प्रकीर्णकों के नाम मिलते हैं, जबकि पृ. ५७-५८ पर ऋषिभाषित सहित १५ प्रकीर्णकों का उल्लेख है।)

६. (अ). कालियसुर्यं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपणत्ती।

सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होई अणुओगो॥ १२४ ॥ (मू.भा.)

तथा ऋषिभाषितानि-उत्तराध्ययनादीनि, 'तृतीयश्च'

कालानुयोगः - आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, पृ. २०६

(ब). आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्जमायारे ।

सूयगडे निज्जुतिं वुच्छामि तहा दसाणं च ॥

कप्पस्स य निज्जुतिं ववहारस्सेव परमणिउणस्स ।

सूरिअपणत्तीए वुच्छं इसिभासिआणं च ॥

- आवश्यकनिर्युक्ति, ८४-८५.

७. पणहावागरणदसाणं दस अज्जयणा पन्नता, तंजहा-उवमा, संखा,  
इसिभासियाइं, आयरियभासिताइं, महावीरभासिताइं, खोमपसिणाईं,  
कोमलपसणाइं, अद्दागपसिणाइं, अंगुट्टपसिणाइं, बाहुपसिणाइं।  
ठाणंगसुवे, दसमं अज्जभयणं दसट्ठाणं। (महावीर जैन विद्यालय संस्करण,  
पृ. ३११)

८. चोत्तालीसं अज्जयणा इसिभासिया दियलोगचुताभासिया पणत्ता।

-समवायंगसुत्त-४४

९. आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्त तवोधणा।

उदाएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसीयति ॥ १ ॥

अभुंजिया नमी विदेही, रामपुत्ते य भुंजिआ।

बाहुए उदगं भोच्चा तहा नारायणे रिसी ॥ २ ॥

असिले देविले चेव दीवायण महारिसी।

पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि यं ॥ ३ ॥

एते पुर्व्वं महापुरिसा आहिता इह संभता।

भोच्चा बीओदगं सिद्ध इति मेयमणुस्सुअ ॥ ४ ॥

- सूत्रकृतांग, १/३/४/१-४

१०. वही, २/६/१-३, ७, ९

११. भगवती शतक, १५.

१२. उपासकदशांग, अध्याय ६ एवं ७.

१३. (अ). सुत्तनिपात, ३२ सभियसुत्त

(ब). दीघनिकाय, सामञ्जफलसूत्र।

१४. ये ते समणब्राह्मणा संगिनो गणिनो गणाचरिया आता यसस्सिनो  
तित्थकरा साधु सम्मता, बहुजनस्स, सेव्यथीदं पूरणो कस्सपो,  
मक्खलिगोसालो, अजितो केसकम्बली, पकुधो कच्चायनो,  
संजयो वेलटिठपुत्तो, निगण्ठो नातपुत्तो। - सुत्तनिपात, ३२-सभियसुत्त।

१५. (अ). भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १०२-१०४

(B). It is..... the oldest of the pectic books of the  
Buddhist scriptures, Introduction, Page-2, --  
Sutta-Nipata (Siter Vajira).

१६. उभो नारद पब्बता। - सुत्तनिपात ३२, सभियसुत्त, ३४

१७. असितो इसि अद्दस दिवाविहारे। - सुत्तनिपात ३७, नालकसुत्त १

१८. जिण्णेऽहमस्मि अबलो वीतवण्णे (इच्चायस्मा पिंगियो)

- सुत्तनिपात ७१, पिंगियमाणवपुच्छा.

१९. सुत्तनिपात, ३२, सभियसुत्त

२०. वही

२१. वही

२२. थेरगाथा ३६, डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स  
वाल्जूम प्रथम, पृ. ६३१, वाल्जूम द्वितीय, पृ. १५.

२३. (अ). 'आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुअ णंगलां  
झाणं फालो निसित्तो य, संवरो य बीयं दढं ॥ ८ ॥

अकूडत्तं च कूडेसु, विणए णियमणे ठिते।  
 तितिक्खा य हलीसा तु दया गुत्ती य पग्गहा ॥ १ ॥  
 सम्मत्तं गोत्थणवो, समिती उ समिला तथा।  
 थितिजोत्तसुसंबद्धा सव्वण्णुवयणे रया ॥ १० ॥  
 पंचैव इंदियाणि तु खन्ता दन्ता य णिज्जिता।  
 माहणेसु तु ते गोणा गंभीरं कसते किसिं ॥ ११ ॥  
 तवो बीयं अवंझं से, अहिंसा णिहणं परं।  
 ववसातो घणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥ १२ ॥  
 थिती खलं वसुयिकं, सद्धा मेढी य णिच्चला।  
 भावणा उ वती तस्स, इरिया दारं सुसंवुडं ॥ १३ ॥  
 कसाया मलणं तस्स, कित्तिवातो व तक्खमा।  
 णिज्जरा तु लवामीसा इति दुक्खाण णिक्खति ॥ १४ ॥  
 एतं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं।  
 माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे विसुज्झती ॥ १५ ॥

- इसिभासियाइं, २६/८-१५

(ब). 'कतो छेत्तं कतो बीयं, कतो ते जुगणंगले ?  
 गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णात ते किसी ॥ १ ॥  
 आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुगणंगलां।  
 अहिंसा समिती जोज्जा, एसा घम्मन्तरा किसी ॥ २ ॥  
 एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स वियाहिता।  
 एसा बहुसई होई परलोकसुहावहा ॥ ३ ॥  
 एयं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं।  
 माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वावि य सिज्झती' ॥ ४ ॥

- इसिभासियाइं, ३२/१-४

२४. सद्धा बीजं तपो वुट्ठि पज्जा में युगनंगलां।  
 हिरि ईसा मनो योत्तं सति मे फालपाचनं ॥ २ ॥

कायगुत्तो वचीगुत्तो आहारे उदरे यतो।  
 सच्चं करोमि निदानं सोरच्चं मे पमाचनं ॥ ३ ॥  
 प्रिरियं मे धुरधोरम्हं योगक्खेमाधिवाहनं ।  
 गच्छति अनिवत्तन्तं यत्थ गन्त्वा न सोचति ॥ ४ ॥  
 एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला।  
 एतं कसिं कसित्वान सव्वदुक्खा पमुच्चतीति ॥ ५ ॥

- सुत्तनिपात, ४ - कसिभारद्वाजसुत्त

२५. अहं च भोयरायस्स तं च सि अन्धगवण्हणो।  
 मा कुले गन्धणा होमो संजमं निहुओ चर ॥

- उत्तराध्ययन, २२/४४

२६. पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।  
 नेच्छति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥

- दशवैकालिक, १/६

२७. आनाणे कुले जातो जथा जागो महाविसो।  
 मुचिता सविसं भूतो पियन्तो जातो लाघवं ॥

- इसिभासियाइं, ४५-४०

२८. (अ). इसिभासियाइं, २६/१५

(ब). इसिभासियाइं, ३२/४

२९. **See -- Introduction of Isibhasiyaim, by walther  
 schubring, Ahmedabad-1974**

३०. देखें - भगवती शतक, १५.

३१. देखें- उपासकदसांग, अध्याय ६ एवं ७.

३२. ज्ञाताधर्मकथा, द्रौपदी नामक अध्ययन

३३. पत्तेयबुद्धमिसिणोबीसं तित्थे अरिट्टणेमिस्सा।  
 पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स ॥

- इसिभासियाइं, संपा.- मनोहरमुनि, परिशिष्ट नं.१

३४. नारयरिसिपामुक्खे, वीसं सिरिनेमिनाहतित्थम्मि।

पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि ॥ ४४ ॥

पत्तेयबुद्धसाह, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता।

पणयालीसं इसिभासियाइं अज्जयणपवराइं ॥ ४५ ॥

-ऋषिमण्डलप्रकरणम्, आत्मवल्लभ ग्रंथमाला, ग्रंथांक १३, बालापुर,  
गाथा ४४, ४५

३५. पण्हावागरणदसासु णं ससमय परसमय पण्णवय  
पतेअबुद्धविविहत्थभासाभासियाणं। - समवायांग, सूत्र ५४६.
३६. औपपातिकसूत्र ३८
३७. बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय, पंचम ब्राह्मण, १

## मूलाचार : एक विवेचन

### मूलाचार का महत्त्व

मूलाचार को वर्तमान में दिगम्बर जैन परम्परा में आगम स्थानीय ग्रंथ के रूप में मान्य किया जाता है। यह ग्रंथ मुख्यतः अचेल परम्परा के साधु-साधिवियों के आचार से सम्बंधित है। यह भी निर्विवाद संत्य है कि दिगम्बर परम्परा में इस ग्रंथ का उतना ही महत्त्व है, जितना कि श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग का। यही कारण है कि धवला और जयधवला (दसवीं शताब्दी) में इसकी गाथाओं को आचारांग की गाथा कहकर उद्धृत किया गया है। यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में जब आचारांग को लुप्त मान लिया गया, तो उसके स्थान पर मूलाचार को ही आचारांग के रूप में देखा जाने लगा। वस्तुतः, आचारांग के प्राचीनतम अंश प्रथम श्रुतस्कंध में अचेलता का प्रतिपादन होते हुए भी मुनि के वस्त्र-ग्रहण सम्बंधी कुछ उल्लेख, फिर चाहे वे आपवादिक स्थिति के क्यों न हो, पाए ही जाते हैं। यही कारण था कि अचेलकत्व पर अत्यधिक बल देने वाली यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा उसे अपने सम्प्रदाय में मान्य न रख सकी और उसके स्थान पर मूलाचार को ही अपनी परम्परा का मुनि आचार सम्बंधी ग्रंथ मान लिया।

## मूलाचार के आधार ग्रंथ

आर्यिका ज्ञानमतीजी ने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित मूलाचार की भूमिका में यह लिखा है कि आचारांग के आधार पर चौदह सौ गाथाओं में ग्रंथकर्ता ने इस ग्रंथ की रचना की, ' किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह ग्रंथ आचारांग और विशेष रूप से उसके प्राचीनतम अंश प्रथम श्रुतस्कंध के आधार पर तो बिल्कुल ही नहीं लिखा गया है। जिन ग्रंथों के आधार पर मूलाचार की रचना हुई है, वे श्वेताम्बर परम्परा के मान्य बृहद्प्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास आदि हैं, जिनकी सैकड़ों गाथाएं शौरसेनी रूपांतरण के साथ इसमें गृहीत की गई हैं। वस्तुतः, मूलाचार श्वेताम्बर परम्परा में मान्य निर्युक्तियों एवं प्रकीर्णकों की विषयवस्तु एवं सामग्री से निर्मित है।

## मूलाचार की परम्परा

यद्यपि हमें स्पष्ट रूप से इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि यह ग्रंथ श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि इसमें मुनि के अचेलकत्व पर जितना अधिक बल दिया गया है, उतना श्वेताम्बर परम्परा के आचारांग को छोड़कर किसी भी आचारपरक ग्रंथ में नहीं मिलता। इसे श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ मानने में दूसरी कठिनाई यह है कि इसकी भाषा न तो अर्द्धमागधी है और न महाराष्ट्री प्राकृत। इसमें अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में रचित श्वेताम्बर आगम ग्रंथों की सैकड़ों गाथाएं शौरसेनी रूपांतरण में मिलती हैं, किंतु इस आधार पर इसे श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ नहीं कह सकते, क्योंकि अभी तक श्वेताम्बर परम्परा का कोई भी ग्रंथ शौरसेनी प्राकृत में लिखा गया हो, यह ज्ञात नहीं होता। यह सत्य है कि शौरसेनी प्राकृत में लेखन कार्य मुख्यतः अचेल परम्परा में ही हुआ है।

किंतु इसमें कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनके आधार पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह दिगम्बर परम्परा का ग्रंथ है। सर्वप्रथम तो इसमें आर्यिका को श्रमण के समकक्ष मानकर उसकी मुक्ति का जो विधान किया गया है, वह इसे दिगम्बर ग्रंथ मानने में बाधा उत्पन्न करता है। दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् पं. नाथूराम प्रेमी ने अनेक तर्कों के आधार पर कहा है कि यह दिगम्बर परम्परा

का ग्रंथ नहीं है। अतः, यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि मूलाचार श्वेताम्बर और दिगम्बर- दोनों में से किसी परम्परा का ग्रंथ नहीं है, तो फिर किस परम्परा का ग्रंथ है। यह स्पष्टतः सत्य है कि यह ग्रंथ अचेलकता आदि के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के निकट, किंतु स्त्री-दीक्षा, स्त्री-मुक्ति, आगमों को मान्य करने आदि कुछ बातों में श्वेताम्बर परम्परा से भी समानता रखता है। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि यह ग्रंथ एक ऐसी परम्परा का ग्रंथ है, जो कुछ रूप में श्वेताम्बरों और कुछ रूप में दिगम्बरों से समानता रखती थी। डॉ. उपाध्ये, पं. नाथूराम प्रेमी के लेखों एवं प्राचीन भारतीय अभिलेखीय तथा साहित्यिक साक्ष्यों के अध्ययन से अब यह स्पष्ट हो गया है कि श्वेताम्बर और दिगम्बरों के बीच एक योजक सेतु का काम करने वाली 'यापनीय' नाम की एक तीसरी परम्परा भी थी। हम पूर्व में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि यापनीय परम्परा जहां अचेलकत्व पर बल देने के कारण दिगम्बर परम्परा के निकट थी, वहीं स्त्री-मुक्ति, केवलीभुक्ति और आगमों की उपस्थिति, आपवादिक रूप में वस्त्र एवं पात्र व्यवहार आदि से श्वेताम्बर परम्परा के निकट थी। मूलाचार की रचना इसी परम्परा में हुई है। आइए इस सम्बन्ध में कुछ अधिक विस्तार से चर्चा करें-

### मूलाचार : यापनीय परम्परा का ग्रंथ

बहुश्रुत दिगम्बर विद्वान् पं. नाथूरामजी 'प्रेमी' ने इसे यापनीय परम्परा का ग्रंथ माना है, इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं ? -

'मुझे ऐसा लगता है कि यह ग्रंथ कुन्दकुन्द का तो नहीं ही है, उनकी विचार परम्परा का भी नहीं है, बल्कि यह उस परम्परा का जान पड़ता है, जिसमें शिवार्य और अपराजित हुए हैं। कुछ बारीकी से अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है' -

१. मूलाचार और भगवती आराधना की पचासों गाथाएं एक सी और समान अभिप्राय प्रकट करने वाली हैं।

२. मूलाचार की 'आचेलकुद्देसिय' आदि ९०९ वीं गाथा भगवती आराधना की ४२१ वीं गाथा है। इसमें दस कल्पों के नाम हैं। जीतकल्पभाष्य की १९७२ वीं गाथा भी यही है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्य टीकाग्रंथों और नियुक्तियों में भी



यह है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के 'स्त्रीमुक्तिविचार' में प्रभाचंद्र ने दस कल्पों की मान्यता का उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धांत के रूप में किया है।

३. मूलाचार की 'सेज्जोगासणिसेज्जा' आदि ३९१ वीं गाथा और आराधना की ३०५ वीं गाथा एक ही है। इसमें कहा है कि वैयावृत्ति करने वाला मुनि रुग्ण मुनि का आहार, औषधि आदि से उपकार करे। इसी गाथा के विषय में कवि वृन्दावनदास को शंका हुई थी कि उसका निवारण करने के लिए उन्होंने दीवान अमरचंद्रजी को पत्र लिखा था। समाचार अधिकार 'गच्छे वेज्जावच्चं' आदि १७४ वीं गाथा की टीका में भी वैयावृत्ति का अर्थ शारीरिक प्रवृत्ति और आहारादि से उपकार करना लिखा है- 'वेज्जावच्चं वैयावृत्त्यं कायिकव्यापराहारादिभिरुपग्रहणम्।'

४. भगवती आराधना की ४१४ वीं गाथा के समान इसकी भी ३८७ वीं गाथा<sup>३</sup> में आचारकल्प एवं जीतकल्प ग्रंथों का उल्लेख है, जो यापनीय को मान्य थे और श्वेताम्बर परम्परा में आज भी उपलब्ध हैं।

५. गाथा २७७-७८-७९ में कहा है कि संयमी मुनि और आर्यिकाओं को चार प्रकार के सूत्र कालशुद्धि आदि के बिना नहीं पढ़ना चाहिए। इनसे अन्य आराधना, निर्युक्ति, मरणविभक्ति, संग्रह, स्तुति, प्रत्याख्यान, आवश्यक और धर्मकथा आदि पढ़ना चाहिए।<sup>४</sup> ये सब ग्रंथ मूलाचार के कर्ता के समक्ष थे, परंतु कुन्दकुन्द की परम्परा के साहित्य में इन नामों के ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं।

६. मूलाचार 'बावीसं तित्थयरा'<sup>५</sup> और 'सपडिक्कमणो धम्मो'<sup>६</sup>- इन दो गाथाओं में जो कुछ कहा गया है, वह कुन्दकुन्द की परम्परा में अन्यत्र कहीं नहीं कहा गया है। ये ही दो गाथाएं भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्ति में हैं और वह श्वेताम्बर ग्रंथ है।

७. आवश्यकनिर्युक्ति की लगभग ८० गाथाएं मूलाचार में मिलती हैं<sup>७</sup> और मूलाचार में प्रत्येक आवश्यक का कथन करते समय वट्टकेर का यह कहना कि मैं प्रस्तुत आवश्यक पर समास से (संक्षेप में) निर्युक्ति कहूंगा<sup>८</sup>, अवश्य ही अर्थसूचक है, क्योंकि सम्पूर्ण मूलाचार में 'षडावश्यक अधिकार' को छोड़कर अन्य प्रकरणों में 'निर्युक्ति' शब्द शायद ही कहीं आया हो। षडावश्यक के अंत में भी इस

अध्याय को 'निर्युक्ति' नाम से ही निर्दिष्ट किया गया है।<sup>१</sup>

८. मूलाचार के मुनियों के लिए 'विरत' और आर्यिकाओं के लिए 'विरती' शब्द का उपयोग किया गया है (गाथा १८०)। मुनि- आर्यिका, श्रावक-श्राविका मिलकर चतुर्विध संघ होता है। चौथे समाचार अधिकार (गाथा १८७) में कहा है कि अभी तक कहा हुआ- यह यथाख्यातपूर्व समाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य जानना<sup>२</sup>। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रंथकर्त्ता मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखते हैं, जबकि आ. कुन्दकुन्द स्त्री-प्रव्रज्या का निषेध करते हैं<sup>३</sup>, फिर १६६ वीं गाथा में कहा है कि इस प्रकार की चर्चा, जो मुनि और आर्यिकाएं करती हैं, वे जगतपूजा, कीर्त्ति और सुख प्राप्त करके 'सिद्ध' होती हैं<sup>४</sup>। १८४ वीं गाथा में कहा है कि आर्यिकाओं का गणधर गंभीर, दुर्धर्ष, अल्पकौतूहल, चिरप्रव्रजित और गृहीतार्थ होना चाहिए। इससे जान पड़ता है कि आर्यिकाएं मुनिसंघ के ही अंतर्गत हैं और उनका गणधर मुनि ही होता है। 'गणधरो मर्यादोपदेशकः प्रतिक्रमणाद्याचार्यः (टीका)।

इन सब बातों से मूलाचार कुन्दकुन्द परम्परा का ग्रंथ नहीं मालूम होता, अतः मूलाचार यापनीय परम्परा का ग्रंथ है, यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलाचार को यापनीय परम्परा का ग्रंथ मानने के अनेक प्रमाण हैं। पं. नाथूरामजी प्रेमी ने अपने उपर्युक्त विवेचन में उन सभी तथ्यों का संक्षेप में उल्लेख कर दिया है, जिनके आधार पर मूलाचार को कुन्दकुन्द की अचेल-परम्परा के स्थान पर यापनीयों की अचेल-परम्परा का ग्रंथ माना जाना चाहिए। मैं पं. नाथूरामजी प्रेमी द्वारा उठाए गए इन्हीं मुद्दों पर विस्तार से चर्चा करना चाहूंगा।

सर्वप्रथम मूलाचार और भगवती आराधना की अनेक गाथाएं समान और समान अभिप्राय को प्रकट करने वाली होने के कारण प्रेमी जी ने इसे भगवतीआराधना की परम्परा का ग्रंथ माना है। प्रेमीजी ने इस तथ्य का भी संकेत किया है कि मूलाचार के समान ही भगवती आराधना के भी कुछ ऐसे मन्तव्य हैं, जो अचेल दिगम्बर परम्परा से मेल नहीं खाते हैं और यदि भगवती आराधना दिगम्बर परम्परा का ग्रंथ न होकर यापनीय परम्परा का ग्रंथ सिद्ध होता

है, तो फिर मूलाचार को भी हमें यापनीय परम्परा का ही ग्रंथ मानना होगा। यद्यपि प्रेमीजी ने मात्र भगवती आराधना से इसकी गाथाओं की समरूपता की चर्चा की है, परंतु बात यहीं समाप्त नहीं होती। मूलाचार में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य अनेक ग्रंथों की गाथाएं समान रूप से उपलब्ध होती हैं। उनमें शौरसेनी और अर्द्धमागधी अथवा महाराष्ट्री के अंतर के अतिरिक्त कहीं किसी प्रकार का अंतर भी नहीं है। मूलाचार के बृहद् प्रत्याख्यान नामक द्वितीय अधिकार में अधिकांश गाथाएं महापच्चक्खान और आउरपच्चक्खान से मिलती हैं। मूलाचार के बृहद् प्रत्याख्यान और संक्षिप्त प्रत्याख्यान- इन दोनों अधिकारों में क्रमशः ७१ और १४ गाथाएं अर्थात् कुल ८५ गाथाएं हैं। इनमें ७० गाथाएं तो आतुर प्रत्याख्यान नामक श्वेताम्बर परम्परा के प्रकीर्णक से मिलती हैं, शेष १५ गाथाओं में भी कुछ महापच्चक्खान एवं चंद्रवेध्यक में मिल जाती हैं। ये गाथाएं श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णकों के रूप में आज भी स्वीकार्य हैं। पुनः, अध्याय का नामकरण भी उन्हीं ग्रंथों के आधार पर है। इसी प्रकार, मूलाचार के षडावश्यक अधिकार की १९२ गाथाओं में से ८० गाथाएं आवश्यकनिर्युक्ति से समानता रखती हैं। इसके अतिरिक्त, इसी अधिकार में पाठभेद के साथ उत्तराध्ययन, अनुयोगद्वार और दशवैकालिक से अनेक गाथाएं मिलती हैं। पंचाचार अधिकार में सबसे अधिक २२२ गाथाएं हैं। इसकी ५० से अधिक गाथाएं उत्तराध्ययन और जीवसमास नामक श्वेताम्बर ग्रंथ में समान रूप से पाई जाती हैं। इसमें जो षड्जीवनिकाय का विवेचन है, उसकी अधिकांश गाथाएं उत्तराध्ययन के ३६ वें अध्याय और जीवसमास में हैं। इसी प्रकार ५ समिति, ३ गुप्ति आदि का जो विवेचन उपलब्ध होता है, वह भी उत्तराध्ययन और दशवैकालिक में किंचित् भेद के साथ उपलब्ध होता है। इसी प्रकार, मूलाचार के पिण्डशुद्धि अधिकार की ८३ गाथाएं हैं, इनमें भी अधिकांश गाथाएं श्वेताम्बर परम्परा के पिण्डनिर्युक्ति नामक ग्रंथ में यथावत् रूप में उपलब्ध होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलाचार की अधिकांश सामग्री श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, आउरपच्चक्खान, महापच्चक्खान, आवश्यकनिर्युक्ति, चंद्रवेध्यक आदि श्वेताम्बर परम्परा के मान्य

उपर्युक्त ग्रंथों से संकलित है। आश्चर्य तो यह लगता है कि हमारी दिगम्बर परम्परा के विद्वान् मूलाचार में कुन्दकुन्द के ग्रंथों से मात्र २१ गाथाएं समान रूप से उपलब्ध होने पर इसे कुन्दकुन्द की कृति सिद्ध करने का साहस करते हैं और जिस परम्परा के ग्रंथों से इसकी आधी से अधिक गाथाएं समान रूप से मिलती हैं, उसके साथ इसकी निकटता को दृष्टि से ओझल कर देते हैं। मूलाचार की रचना उसी परम्परा में सम्भव हो सकती है, जिस परम्परा में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, महापच्चक्खाण, आउरपच्चक्खाण आदि ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा रही है। वर्तमान की खोजों से यह स्पष्ट हो चुका है कि यापनीय परम्परा में इन ग्रंथों का अध्ययन होता था। इसी प्रकार, यापनीय परम्परा में अपराजितसूरि ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर टीकाएं लिखकर इसी बात की पुष्टि की है कि इसका अध्ययन और अध्यापन उनकी परम्परा में प्रचलित था। जो परम्परा आगम ग्रंथों का सर्वथा लोप मानती है, उस परम्परा में मूलाचार जैसे ग्रंथ की रचना सम्भव नहीं प्रतीत होती। यह स्पष्ट है कि जहां दक्षिण भारत में विकसित दिगम्बर अचेल परम्परा आगमों के विच्छेद की बात कर रही थी, वहीं उत्तर भारत में विकसित होकर दक्षिण की ओर जाने वाली इस यापनीय-परम्परा में आगमों का अध्ययन बराबर चल रहा था। अतः, इससे यही सिद्ध होता है कि मूलाचार की रचना कुन्दकुन्द की दिगम्बर परम्परा में न होकर यापनीयों की अचेल परम्परा में हुई है।

स्वयं मूलाचार के पांचवें पंचाचार नामक अधिकार की ७९ वीं गाथा में <sup>१३</sup> और ३८७ वीं गाथा में <sup>१४</sup> आचारकल्प, जीतकल्प, आवश्यकनिर्युक्ति, आराधना, मरणविभक्ति, पच्चक्खाण, आवश्यक धर्मकथा (ज्ञाताधर्मकथा) आदि ग्रंथों के अध्ययन के स्पष्ट निर्देश हैं। मेरी दृष्टि से उक्त गाथाओं में निम्न ग्रंथों का निर्देश होता है - १. आराधना, २. निर्युक्ति, ३. मरणविभक्ति, ४. संग्रह (पंचसंग्रह), ५. स्तुति (देविन्दत्थुई), ६. प्रत्याख्यान, ७. आवश्यक और ८. ज्ञाताधर्मकथा।

सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि इन ग्रंथों में कौन-कौनसे ग्रंथ श्वेताम्बर परम्परा में मान्य एवं उपलब्ध हैं और कौन-कौनसे दिगम्बर परम्परा में मान्य एवं

उपलब्ध हैं। इन ग्रंथों में सर्वप्रथम आराधना का नाम है। आराधना के नाम से सुपरिचित ग्रंथ शिवार्य का भगवती आराधना या मूलाराधना है। यह सुस्पष्ट है कि भगवती आराधना मूलतः दिगम्बर परम्परा का ग्रंथ न होकर यापनीय संघ का ग्रंथ है। मूलाचार में जिस आराधना का निर्देश किया गया है, वह भगवती आराधना ही है। मूलाचार भी उसी यापनीय परम्परा का ग्रंथ प्रतीत होता है, क्योंकि मूलाचार के रचनाकार ने सर्वप्रथम उसी ग्रंथ का नामोल्लेख किया है। दिगम्बर परम्परा में आराधना नाम का कोई ग्रंथ नहीं है, यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में मरणविभक्ति नाम का जो ग्रंथ है, उसकी रचना जिन आठ प्राचीन श्रुत ग्रंथों के आधार पर मानी जाती है, उनमें मरणविभक्ति, मरणविशोधि, मरणसमाधि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और आराधना हैं। प्रस्तुत गाथा में मरणविभक्ति, प्रत्याख्यान और आराधना- ऐसे तीन स्वतंत्र ग्रंथों के उल्लेख हैं। यह सम्भव है कि मूलाचार का आराधना से तात्पर्य इसी प्राचीन आराधना से रहा होगा। यह आराधना भगवती आराधना की रचना का भी अधिकार रही है। यदि हम आराधना का तात्पर्य भगवती आराधना लेते हैं, तो हमें इतना निश्चित रूप से स्वीकार करना होगा कि मूलाचार का रचनाकाल भगवती आराधना की रचना के बाद का है और दोनों ग्रंथों के आंतरिक साक्ष्यों के आधार पर यह निर्णय करना होगा कि इनमें से कौन प्राचीन है। चूंकि यह एक स्वतंत्र निबंध का विषय होगा, इसलिए इसकी अधिक गहराई में नहीं जाना चाहता, किंतु इतना अवश्य उल्लेख करूंगा कि यदि भगवती आराधना की रचना मूलाचार से परवर्ती है, तो मूलाचार में लिखित यह आराधना मरणसमाधि की अंगीभूत आराधना ही है। दोनों का नाम साम्य भी इस धारणा को पुष्ट करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी समय आराधना स्वतंत्र ग्रंथ था, जो आज मरणविभक्ति में समाहित हो गया है।

श्वेताम्बर परम्परा में आगम ग्रंथों की प्राचीनतम व्याख्याओं के रूप में निर्युक्तियां लिखी गईं। श्वेताम्बर परम्परा में दस निर्युक्तियां सुप्रसिद्ध हैं। निर्युक्ति सम्भवतः द्वितीय भद्रबाहु की रचना मानी जाती है, किंतु कुछ निर्युक्तियां उससे भी प्राचीन हैं। यह भी सुस्पष्ट है कि मूलाचार के षडावश्यक अधिकार में

आवश्यकनिर्युक्ति की ८० से अधिक गाथाएं स्पष्टतः मिलती हैं। अतः, यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत गाथा में निर्युक्ति का जो उल्लेख है, वह श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध निर्युक्तियों से ही है। यह भी स्पष्ट है कि अधिकांश निर्युक्तियां भद्रबाहु द्वितीय के द्वारा रचित हैं और इन भद्रबाहु का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी है। इसमें एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि मूलाचार विक्रम की छठवीं शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है।

मूलाचारकार यह कहकर- 'अब मैं आचार्य परम्परा से यथागत आवश्यकनिर्युक्ति को संक्षेप में कहूंगा', इस तथ्य की स्वयं पुष्टि करता है कि उसके समक्ष आवश्यकनिर्युक्ति नामक ग्रंथ रहा है। दूसरे, अस्वाध्याय काल में पढ़ने योग्य ग्रंथों की सूची में निर्युक्ति का उल्लेख भी इसी तथ्य को सूचित करता है। दिगम्बर परम्परा में निर्युक्तियां लिखी गईं- ऐसा कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं है, अतः मूलाचार में निर्युक्ति से तात्पर्य श्वेताम्बर परम्परा में भी प्रचलित निर्युक्तियों से ही है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर और यापनीय आगमिक ग्रंथ एक ही थे, उनमें मात्र शौरसेनी और महाराष्ट्री का भाषा-भेद था। मूलाचार में जिस तीसरे ग्रंथ मरणविभक्ति का उल्लेख हुआ है, वह भी श्वेताम्बर परम्परा के दस प्रकीर्णकों में से एक है। यह मरणविभक्ति और मरणसमाधि- इन दो नामों से उल्लिखित है। स्वयं ग्रंथकार ने भी इसे मरणविभक्ति कहा है। इससे सिद्ध होता है कि मूलाचार द्वारा निर्दिष्ट मरणविभक्ति श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध मरणविभक्ति ही है। दिगम्बर परम्परा में मरणविभक्ति नाम का कोई ग्रंथ रहा हो- ऐसा उल्लेख मुझे देखने को नहीं मिला है, यद्यपि मूलाचार में उल्लिखित मरणविभक्ति वर्तमान मरणविभक्ति का एक भाग मात्र थी, क्योंकि वर्तमान मरणविभक्ति आठ प्राचीन ग्रंथों का संकलन है।

जिस चौथे ग्रंथ का उल्लेख हमें मूलाचार में मिलता है, वह संग्रह है। संग्रह से ग्रंथकार का क्या तात्पर्य है- यह विचारणीय है। पंच-संग्रह के नाम से कर्मसाहित्य सम्बंधी ग्रंथ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर- दोनों ही परम्पराओं में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त, दिगम्बर परम्परा में पंचास्तिकाय को भी 'पंचत्थिकाय-संग्रहसुत्त' कहा गया है। स्वयं इस ग्रंथ के कर्ता ने भी इस ग्रंथ को संग्रह कहा है,

अतः एक विकल्प तो यह हो सकता है कि संग्रह से तात्पर्य 'पंचत्थिकाय संग्रह' से हो, किंतु यही एकमात्र विकल्प हो, हम यह नहीं कह सकते, क्योंकि अनेक आधारों पर मूलाचार पंचास्तिकाय की अपेक्षा प्राचीन है। दूसरे, यदि मूलाचार को कुन्दकुन्द के ग्रंथों का उल्लेख इष्ट होता, तो वे समयसार का भी उल्लेख करते। पुनः, कुन्दकुन्द द्वारा 'समय' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया गया है, मूलाचार के समयसाराधिकार में 'समय' शब्द उससे भिन्न अर्थ में ग्रहण हुआ है। श्वेताम्बर परम्परा में संग्रहणीसूत्र का उल्लेख उपलब्ध होता है। पंचकल्पमहाभाष्य के अनुसार संग्रहणियों की रचना आचार्य कालक ने की थी। पाक्षिकसूत्र में निर्युक्ति और संग्रहणी- दोनों का उल्लेख है। संग्रहणी आगमिक ग्रंथों का संक्षेप में परिचय देने वाली रचना है। चूंकि आगमों का अस्वाध्याय काल में पढ़ना वर्जित था, अतः यह हो सकता है कि आचार्य कालक आदि की दृष्टि में जो संग्रहणियां थीं, उन्हीं से ग्रंथकार का तात्पर्य रहा हो। संग्रह से पंचसंग्रह अर्थ ग्रहण करने पर समस्या उठ खड़ी होती है। श्वेताम्बर पंचसंग्रह, जो चंद्रऋषि की रचना माना जाता है, वह किसी भी स्थिति में सातवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं है। दिगम्बर परम्परा का पंचसंग्रह तो और भी परवर्ती ही सिद्ध होता है। उसमें उपलब्ध धवला आदि का कुछ अंश उसे १० वीं - ११ वीं शती तक ले जाता है। अतः, मूलाचार में संग्रह के रूप में जिस ग्रंथ का उल्लेख है, वह ग्रंथ वर्तमान श्वेताम्बर दिगम्बर-परम्परा का उपलब्ध पंचसंग्रह तो नहीं हो सकता, अन्यथा हमें मूलाचार की तिथि को काफी नीचे ले जाना होगा। गाथा के संदर्भ-स्थल को देखते हुए उसे प्रक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह बात निश्चित ही सत्य है कि पंचसंग्रह में जिन ग्रंथों का संग्रह किया गया है, उनमें कुछ ग्रंथ शिवशर्मसूरि की रचनाएं हैं और इस दृष्टि से प्राचीन भी हैं। सम्भवतः, यही लगता है कि उपलब्ध पंचसंग्रह के पूर्व भी कर्म सिद्धांत से सम्बंधित कसायपाहुड, सतक, सित्तरी आदि कुछ ग्रंथों का एक संग्रह रहा होगा और जो संग्रह नाम से प्रसिद्ध था। हो सकता है कि मूलाचार ने उसी का उल्लेख किया हो। शुदि या स्तुति से मूलाचार का तात्पर्य किस ग्रंथ से है- यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है। टीकाकार वसुनन्दी ने इसका तात्पर्य समन्तभद्र की 'देवागम' नामक स्तुति-

रचना से लिया है, किंतु मेरी दृष्टि में यह उचित नहीं है। प्रथम तो समन्तभद्र का काल भी विवादास्पद है, उसे किसी भी स्थिति में मूलाचार का पूर्ववर्ती मानना समुचित नहीं है। वस्तुतः, थुदि नाम से कोई प्राकृत रचना ही रहनी चाहिए। श्वेताम्बर परम्परा में थुई के नाम से वीरथुई और देविन्दत्थओ इन दो का उल्लेख मिलता है। वीरथुई सूत्रकृतांग का भी एक अध्याय है, जबकि देविन्दत्थओ की गणना दस प्रकीर्णकों में की जाती है। वैसे प्रकीर्णकों में ही वीरत्थओ (वीरस्तव) एक स्वतंत्र ग्रंथ भी है और इसकी विषयवस्तु सूत्रकृतांग के छठवें अध्याय वीरथुई से भिन्न है। जैसा कि हमने पूर्व-चर्चा में देखा, मूलाचार की प्रस्तुत गाथा में जिन ग्रंथों के नामों का उल्लेख है, उनमें अधिकतर श्वेताम्बर परम्परा के प्रकीर्णकों के नामों से मिलते हैं, अतः प्रस्तुत गाथा में थुई नामक ग्रंथ से तात्पर्य प्रकीर्णकों में समाविष्ट देविन्दत्थओ और वीरत्थओ से ही होना चाहिए। यद्यपि मेरी दृष्टि में 'थुदि' से मूलाचार का तात्पर्य या तो सूत्रकृतांग के छठवें अध्याय में अंतर्निहित 'वीरथुई' से रहा होगा या फिर देविन्दत्थओ नामक प्रकीर्णक से होगा, क्योंकि यह ईसा पूर्व प्रथम शती में रचित एक प्राचीन प्रकीर्णक है (इस सम्बंध में मेरे द्वारा सम्पादित एवं आगम संस्थान द्वारा प्रकाशित 'देविन्दत्थओ' की भूमिका देखें)। प्रकीर्णकों में समाहित वीरत्थुओ मुझे मूलाचार की अपेक्षा परवर्ती रचना लगती है। पच्चक्खाण नामक ग्रंथ से मूलाचार का मन्तव्य क्या है, यह भी विचारणीय है। दिगम्बर परम्परा में पच्चक्खाण नामक कोई ग्रंथ है- ऐसा ज्ञात नहीं होता है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णकों के अंतर्गत आउरपच्चक्खाण और महापच्चक्खाण नामक दो ग्रंथ हैं। अतः, स्पष्ट है कि पच्चक्खाण से मूलाचार का तात्पर्य आउरपच्चक्खाण तथा महापच्चक्खाण नामक ग्रंथों से ही है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी ने इसे स्पष्ट नहीं किया है। केवल इतना ही कहकर छोड़ दिया है कि विधि और चतुर्विध परित्याग का प्रतिपादक ग्रंथ, किंतु ऐसा कोई ग्रंथ श्वेताम्बर या दिगम्बर परम्परा में रहा है- ऐसा ध्यान में नहीं आता। जब मूलाचार में आउरपच्चक्खाण की ही ७० गाथाएं मिल रही हैं, इसके अतिरिक्त महापच्चक्खाण की भी गाथाएं उसमें थीं ही, इससे सिद्ध होता है कि पच्चक्खाण से मूलाचारकार का तात्पर्य आउरपच्चक्खाण और महापच्चक्खाण से ही है।



आवासय या आवश्यक से मूलाचारकार का तात्पर्य किस ग्रंथ से है- यह भी विचारणीय है। टीकाकार वसुनन्दी ने मात्र केवल इतना निर्देश दिया है कि आवश्यक से तात्पर्य सामायिक आदि षड्-आवश्यक कार्यों का प्रतिपादक ग्रंथ। दिगम्बर परम्परा में इस प्रकार का कोई ग्रंथ नहीं रहा है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यक नामक स्वतंत्र ग्रंथ प्राचीन काल से उपलब्ध है और उसकी गणना ग्रंथ के रूप में की गई है। अतः, स्पष्ट है कि मूलाचारकार का आवश्यक से तात्पर्य श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आवश्यकसूत्र से ही है।

अंतिम ग्रंथ, जिसका इस गाथा में उल्लेख है, वह धर्मकथा है। यह बात निश्चित ही विचारणीय है कि धर्मकथा से ग्रंथकार का तात्पर्य किस ग्रंथ से है। दिगम्बर परम्परा में धर्मकथानुयोग के रूप में जो पुराण आदि साहित्य उपलब्ध है, वह किसी भी स्थिति में मूलाचार से पूर्ववर्ती नहीं है। टीकाकार वसुनन्दी ने धर्मकथा से त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र आदि का जो तात्पर्य लिया है, वह तब तक ग्राह्य नहीं बन सकता, जब तक कि त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र का विवेचन करने वाले मूलाचार से पूर्व के कोई ग्रंथ हों। यदि हम त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र से सम्बंधित ग्रंथों को देखते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी ग्रंथ मूलाचार से परवर्ती ही हैं, अतः यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है कि धर्मकथा से मूलाचार का क्या तात्पर्य है। इसके उत्तर के रूप में हमारे सामने दो विकल्प हैं, या तो हम यह मानें कि मूलाचार की रचना के पूर्व भी कुछ चरित्र ग्रंथ रहे होंगे, जो धर्मकथा के नाम से जाने जाते होंगे, किंतु यह कल्पना अधिक संतोषजनक नहीं लगती। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि धर्मकथा से तात्पर्य 'नायधम्मकहा' से तो नहीं। यह सर्वमान्य है कि 'नायधम्मकहा' की विषयवस्तु धर्मकथानुयोग से सम्बंधित है। इस विकल्प को स्वीकार करने में केवल एक ही कठिनाई है कि कुछ अंग आगम भी अस्वाध्याय काल में पढ़े जा सकते हैं- यह मानना होगा। एक और विकल्प हो सकता है। धर्मकथा से तात्पर्य कहीं 'पउमचरिय' आदि ग्रंथ से तो नहीं है, लेकिन यह कल्पना ही है। मेरी दृष्टि में तो 'धम्मकहा' से मूलाचार का तात्पर्य 'नायधम्मकहा' से होगा। मूलाचार में उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त 'आयारकप्प' और 'जीदकप्प' - ऐसे दो ग्रंथों की और

सूचना मिलती है, अतः इनके सम्बंध में भी विचार कर लेना आवश्यक है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों में छेदसूत्रों के अंतर्गत आचारकल्प (दशाश्रुतस्कंध-आचारदशा) और जीतकल्प के उल्लेख उपलब्ध हैं। यापनीय परम्परा के एक अन्य ग्रंथ छेदशास्त्र में भी प्रायश्चित्त के संदर्भ में आचारकल्प और जीतकल्प का उल्लेख उपलब्ध होता है। यह स्पष्ट है कि आचारकल्प और जीतकल्प मुनि जीवन के आचार नियमों तथा उनसे सम्बंधित प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हैं। पंचाचाराधिकार में तपाचार के संदर्भ में जो इन दो ग्रंथों के उल्लेख हैं, वे वस्तुतः श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आचारदशा और जीतकल्प ही हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर आचार्यों ने यापनीय परम्परा के सम्बंध में स्पष्ट रूप से कहा है कि ये कल्पसूत्र का वाचन करते हैं। स्मरण रहे कि आचारकल्प और आठवां अध्ययन पर्युषणाकल्प के नाम से प्रसिद्ध है और पर्युषण पर्व के अवसर पर श्वेताम्बर परम्परा में पढ़ा जाता है।

इस प्रकार देखते हैं कि मूलाचार में जिन ग्रंथों का निर्देश किया गया है लगभग वे सभी ग्रंथ आज भी श्वेताम्बर परम्परा में मान्य और प्रचलित हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगमिक ग्रंथों के संदर्भ में मूलाचार की परम्परा श्वेताम्बर परम्परा के निकट है। यापनीयों के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि वे श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगम साहित्य को मान्य करते थे। यह हम पूर्व में भी सूचित कर चुके हैं कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में जिन ग्रंथों का निर्माण ई. सन् की दूसरी शती तक हुआ था, उसके उत्तराधिकारी श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों ही रहे हैं। अतः मूलाचार में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य ग्रंथों का उल्लेख यही सिद्ध करता है कि वह यापनीय परम्परा का ग्रंथ है।

### संदर्भ

१. मूलाचार (सं. ज्ञानमती माताजी, भारतीय ज्ञानपीठ) भूमिका, पृ. ११, साथ ही देखें - डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन की प्रधान सम्पादकीय, पृ. ६
२. विस्तृत चर्चा के लिए देखें- जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूरामजी प्रेमी, संशोधित साहित्यमाला, ठाकुरद्वारा बम्बई, १९५६, पृ. ५४८-५५३

३. आयारजीदकप्पगुणदीवणा अप्पसोधि णिज्झंझा।  
अज्जव-महव-लाघव-वुट्ठी पल्हादणं च गुणा ॥ ३८७ ॥ -मूलाचार
४. आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।  
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसिओ ॥ २७९ ॥ -मूलाचार
५. बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवदिसंति।  
छेओवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो उसहो य वीरो या ७-३६
६. सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स जिणस्स।  
अवराहपडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ ६२८ ॥ -मूलाचार
७. देखिए- पं. सुखलाल संघवी 'पंचप्रतिक्रमण सूत्र' भूमिका।
८. 'आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण।'  
सामाइयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण।'  
'चउवीसथयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण' आदि।
९. आवसयणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा।
१०. एसो अज्जाणंपि अ समाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।  
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोगं ॥ १८७ ॥
११. देखिए- कुन्दकुन्द अमृतसंग्रह गा. २४-२७, पृ.सं.१३५  
संपा. पं. कैलाशचंद्र शास्त्री,
१२. एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।  
जगपुज्जं ते कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥ ९६ ॥ -मूलाचार
१३. आराहणा निज्जुत्ति मरणविभत्तीयं संगहत्थुदिओ।  
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसिओ ॥ २७९ ॥ -मूलाचार
१४. आयार जीदकप्प गुण दीवणा ... ॥ ३८७ ॥ -मूलाचार

# उपांग साहित्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामग्री (एक संकलन)

जैन आगम साहित्य में उपांग साहित्य का महत्त्व उसमें उपलब्ध सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामग्री है। उपांग साहित्य में जीवाजीवाभिगम और प्रज्ञापना के अतिरिक्त शेष ग्रंथों में जैन तत्त्वज्ञान की अपेक्षा सामाजिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों की सूचनाएं अधिक हैं। मात्र इतना ही नहीं, जीवाजीवाभिगम और प्रज्ञापना में भी जीवविज्ञान, शरीर संरचना, भाषा, सभ्यदेश आदि से सम्बंधित अनेकों सूचनाएं हैं। औपपातिक और राजप्रश्नीय में नगर संरचना, भाषा सभ्यदेश आदि से सम्बंधित अनेकों सूचनाएं हैं। औपपातिक और राजप्रश्नीय में नगर संरचना और चंद्रसूर्य प्रज्ञप्ति में प्राचीन ज्योतिषशास्त्र से सम्बंधित अनेक सूचनाएं हैं। जीवाजीवाभिगम वनस्पतिजगत् और पशुजगत् के सम्बंध में विशेष जानकारी प्रदान करता है, तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भूगोल और कालचक्र सम्बंधी सूचनाएं हैं। प्रस्तुत आलेख में उपांग साहित्य के ग्रंथों के आधार पर जैन साहित्य के बृहद् इतिहास भाग २ में संकलित कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री यहां प्रस्तुत की जा रही है। हमें विश्वास है कि प्रस्तुत सामग्री को पढ़कर जिज्ञासुओं में उपांग साहित्य के अध्ययन की विशेष रुचि उत्पन्न होगी।

औपपातिकसूत्र में दण्ड के निम्न प्रकारों का उल्लेख है- लोहे या लकड़ी के बंधन में हाथ पैर बांध देना (अंडुबद्धग), लोहे की जंजीर में पैर बांध देना (णिअबद्धग), पैरों में भारी लकड़ी बांध देना (हडिबद्धग), जल में डाल देना (चारगबद्धग), हाथ, पैर, कान, नाक, ओंठ, जीभ, सिर, मुख (गले की नली), उदर और लिंग (वेकच्छ) को छेद देना, कलेजे का मांस खींच लेना, आंख, दांत, अण्डकोष और ग्रीवा को खींच लेना, चावल के बराबर शरीर के टुकड़े कर देना, इन टुकड़ों को जबर्दस्ती भक्षण करना, रस्सी से बांधकर गट्टे में लटका देना, हाथ बांधकर वृक्ष की शाखा में लटका देना, चंदन की भांति बिलोना, लकड़ी की भांति फड़ना, ईख की भांति पेरना, शूली पर चढ़ा देना, शूल को मस्तक के आर-पार कर देना, खार में डाल देना, चमड़े की भांति उखाड़ना, लिंग को तोड़ना, दावानल में जला देना और कीचड़ में डुबो देना।

## मृत्यु के प्रकार

भूख आदि से पीड़ित होकर मर जाना, इंद्रियों की परवशता के कारण मर जाना, निदान (इच्छा) करके मरना, भींतरी घाव से मरना, पर्वत या वृक्ष से गिरकर या निर्जल देत में मरना, जल में डूबकर मरना, विष भक्षण कर अथवा शस्त्रघात से मरना, फांसी पर लटक जाना, गिद्ध पक्षियों से निदारित किया जाना या किसी जंगल में प्राण त्याग देना (३८)।

## उपांग साहित्य में व्रती साधु, तापस परिव्राजक और श्रमण

उपांग साहित्य के प्रथम ग्रंथ औपपातिकसूत्र में उस युग के व्रती, साधु, परिव्राजक, श्रमण आदि का उल्लेख मिलता है, जो उस युग की धर्म परम्परा या साधना विधियों के ज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

### (अ) व्रती और साधु

**गौतम** : यह बैल लोगों के चरण स्पर्श करता था, भिक्षा मांगते समय गौतम साधु इस बैल को साथ रखते थे।

**गोव्रतिक** : गोव्रत रखने वाले। गाय की तरह ये साधु तृण-पत्र आदि का ही भोजन करते हैं और उसके समान ही चर्या करते हैं। इसका उल्लेख मज्झिमनिकाय आदि में भी मिलता है।

**गृहिधर्म** : ये देव और अतिथि आदि को दान देकर संतुष्ट करते हैं। इस प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन करते हैं।

**धर्मचिंतक** - धर्मशास्त्र के पाठक।

**अविरुद्ध** : जो देवता, राजा, माता, पिता, पशु आदि की सम्मानभाव से भक्ति करते हों, जैसे वैश्यायनपुत्र। सबकी विनय करने के कारण ये विनयवादी भी कहे जाते हैं। गीता में इस दृष्टिकोण का उल्लेख है।

**विरुद्ध** : इन्हें अक्रियावादी भी कहते हैं, पुण्य-पाप, परलोक आदि में ये विश्वास नहीं करते।

**वृद्ध** : वृद्ध अवस्था में संन्यास ग्रहण करने वाले या पूर्व से चली आई वृद्ध परम्परा को मानने वाले।

**श्रावक** : धर्मशास्त्र सुनने वाले ब्राह्मण। ये सभी साधु सरसों के तेल को

छोड़कर नौ रसों-दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मद्य और मांस का भक्षण नहीं करते थे (३८)।

### (ब) वानप्रस्थी तापस

होत्तिय : अग्निहोत्र करने वाले।

पोत्तिय : वस्त्रधारी।

कोत्तिय : भूमि पर सोने वाले।

जण्णई : यज्ञ करने वाले।

सहई : श्रद्धाशील।

थालई : सब सामान या थाली आदि लेकर चलने वाले।

हुबउट्ट : कुण्डी लेकर चलने वाले।

दंतुक्खलिय : दांतों से चबाकर खाने वाले।

उम्मज्जक : उम्मज्जन मात्र से डुबकी लगाकर स्नान करने वाले।

सम्मज्जक : अनेक बार स्नान करने वाले।

निमज्जक : जल में निमग्न या डूब रहने वाले।

संपक्खाल : शरीर पर मिट्टी लगाकर स्नान करने वाले या मात्र शरीर का प्रक्षालन करने वाले।

दक्खिणकूलग : गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले।

उत्तरकूलग : गंगा के उत्तर तट पर रहने वाले।

संखधमक : शंख बजाकर भोजन करने वाले।

कूलधमक : नदी के किनारे पर खड़े होकर आवाज करके भोजन करने वाले।

मियलुद्धय : पशुओं का मांस, पशुभक्षण करने वाले।

हत्थितावस : जो हाथी को मारकर उसका मांस सुखाकर उसका ही बहुत काल तक भक्षण करने वाले। इन तपस्वियों का कहना था कि वे एक हाथी को एक वर्ष में मारकर केवल एक ही पाप का संचय करते हैं और इस तरह अल्प हिंसा करते हैं, सूत्रकृतांग में भी इनका उल्लेख है।

उडुंडक : जो दण्ड को ऊपर करके चलते थे।

दिसापोकखी : जो जल द्वारा दिशाओं को सिंचित कर पुष्प, फल आदि बटोरते हों।

वक्कवासी : वक्कल के वस्त्र पहनने वाले।

अम्बुवासी : जल में रहने वाले।

बिलवासी : बिल में रहने वाले।

जलवासी : जल में निमग्न होकर बैठे रहने वाले।

वेलवासी : समुद्र के किनारे रहने वाले।

रूखमूलिआ : वृक्ष के नीचे रहने वाले।

अम्बुभक्षी : जल भक्षण करने वाले।

बाडभक्षी : हवा पीकर रहने वाले।

सेवालभक्षी : शेवाल खाकर रहने वाले।

इनमें से अनेक तपस्वी कंदमूल, छाल, पत्ते, पुष्प और बीज खाकर रहते थे (३८)। इसका उल्लेख निरयावलिका नामक उपांग में भी है।

### प्रव्रजित श्रमण

संखा : सांख्य। ज्ञातव्य है कि यहां सांख्यों को श्रमण परम्परा में माना गया है।

जोई : योगशास्त्र के अनुयायी।

कविल : कपिल के मत को मानने वाले।

भिउच्च : भृगु ऋषि के अनुयायी।

हंस : जो पर्वत, कुहर, बथ, आश्रम, देवकुल और आराम में रहते थे तथा मात्र शिक्षा के लिए गांव में पर्यटन करते थे।

परमहंस : जो नदीतट और उनके संगम-प्रदेशों में नग्न अवस्था में रहते थे।

बहुउदय : जो गांव में एक रात और नगर में पांच रात रहते हों।

कुडिव्यय : जो कुटी बनाकर रहते थे तथा क्रोध, लोभ और मोहरहित होकर अहंकार का त्याग करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

कणहपरिव्वायग : कृष्ण परिव्राजक अथवा नारायण के भक्त (३८)।

ब्राह्मणपरिव्राजक : कण्डु (अथवा कण्ण), करकंडु, अंबड<sup>३</sup>, पारासर, कृष्ण, द्वैपायन, देवगुप्त और णारद।

क्षत्रिय परिव्राजक : सेलई (शैलकीय), ससिहार (ससिहर अथवा मसिहर?), णग्गई (नग्नजित), भग्गई, विदेह, नमिराजर्षि का जनक की परम्परा के मानने वाले, रायाराम राम के उपासक, बल-बलदेव के उपासक।

ये परिव्राजक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इतिहास, निघंटु, पष्ठितंत्र गणित, शिक्षाकल्प, व्याकरण, छंद, निरुक्त और ज्योतिषशास्त्र तथा अन्य ब्राह्मण ग्रंथों में निष्णात थे। ये दान, शौच और तीर्थस्नान का उपदेश देते थे। इनका कहना था कि जो पदार्थ अशुचि है, वह मिट्टी या जल से धोने से पवित्र हो जाता है। ये परिव्राजक कूप, तालाब, नदी, वापी, पुष्करिणी, दोर्धिका, गुंजालिका, सर और सागर में प्रवेश नहीं करते। गाड़ी, पालकी आदि में बैठते। घोड़ा, हाथी, ऊंट, बैल, भैंस और गधे पर सवार नहीं होते। नट, मागध आदि का खेल नहीं देखते। हरित वस्तु का लेप और उन्मूलन आदि नहीं करते। भक्तकथा, देशकथा, राजकथा और चोरकथा नहीं कहते और अनर्थदण्ड नहीं करते। वे लोहे, रंगे, तांबे, जस्ते, सीसे, चांदी व सोने के तथा अन्य बहुमूल्य पात्रों को धारण नहीं करते, केवल तुंबी, लकड़ी या मिट्टी के पात्र ही रखते। भांति-भांति के रंग-बिरंगे वस्त्र नहीं पहनते, केवल गेरुए वस्त्र (धाउरत्त) ही पहनते। हार, अर्थहार आदि कीमती आभूषण नहीं पहनते, केवल एक ताम्बे की अंगूठी पहनते। मालाएं धारण नहीं करते, केवल एक कर्णपूर ही पहनते। अगुरु, चंदन और कुंकुम से अपने शरीर पर लेप नहीं कर सकते, केवल गंगा की मिट्टी को ही उपयोग कर सकते। वे कीचड़रहित बहता हुआ, छाना हुआ अथवा किसी के द्वारा दिया हुआ, मगध देश के एक प्रस्थ जितना-जितना स्वच्छ जल केवल पीने के लिए ग्रहण करते, थाली चम्मच धोने अथवा स्नान आदि करने के लिए नहीं। औपपातिक सूर्य के अनुसार ये परिव्राजक मरकर ब्रह्मलोक में उत्पन्न होते (३८)।

**अम्मड परिव्राजक के शिष्यों की सल्लेखना का उल्लेख**

अम्मड परिव्राजक के साथ शिष्यों ने ज्येष्ठ मास में गंगा के किनारे-किनारे कंपिल्लपुर<sup>१</sup> नगर<sup>२</sup> नगर से पुरमिताल<sup>३</sup> की ओर प्रस्थान किया। इन्होंने जल का दाता न मिलने पर गंगा की बालु में सल्लेखना धारण कर ली थी (३७)।

**अम्मड परिव्राजक**

अम्मड परिव्राजक कंपिल्लपुर नगर में केवल सौ घरों से आहार लेता था और सौ घरों वसति ग्रहण करता था। उसने छट्टमछट्ट तपोकर्म से सूर्य के अभिमुख ऊर्ध्व बाहु करके आतापना भूमि से आतापना करते हुए अवधिज्ञान प्राप्त किया था। वह जल में प्रवेश नहीं करता, गाड़ी आदि में नहीं बैठता, गंगा



की मिट्टी के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का शरीर में लेप नहीं करता। अपने लिए बनाया हुआ आंवाकर्म, औद्देशिक आदि भोजन ग्रहण नहीं करता। कांतार-भक्त, दुर्भिक्ष-भक्त, प्राघूर्णक-भक्त (अतिथियों के लिए बनाया भोजन) तथा दुर्दिन में बनाया हुआ भोजन ग्रहण नहीं करता। अपध्यान, प्रमादचर्या, हिंसाप्रधान और पापकर्म का उपदेश नहीं देता। वह कीचड़रहित, बहता हुआ, छाना हुआ, मगध देश के आधे आढ़क के प्रमाण में स्वच्छ जल केवल पीने के लिए ग्रहण करता था। इस प्रकार उसकी बहुत कुछ चर्या निर्ग्रन्थों के समान थी।

वह भी सल्लेखनापूर्वक कालधर्म को प्राप्त कर वह ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुआ (३७)।

उपांगों में गृहस्थ जीवन के संस्कारों का उल्लेख औपपातिकसूत्र में जन्मदिवस की खुशी में पहले दिन ठिड़वडिय (स्थितिपतिता) उत्सव, दूसरे दिन चंद्र-सूर्यदर्शन और छठवें दिन जागरिका (रात्रिजागरण) उत्सव, ग्यारहवें दिन सूतक बीत जाने पर बारहवें दिन के उल्लेख है। उपांग साहित्य में उल्लेखित औपपातिक नामक उपांग में निम्नांकित ७२ कलाओं का उल्लेख मिलता है-

१. लेह (लेखन)
२. गणिय (गणित)
३. रूब (चित्र बनाना)
४. नट (नृत्य)
५. वाइय (वादित्र)
६. सरगय (सात स्वरों का ज्ञान)
७. पोक्खरगय (मृदंग वगैरह बजाने का ज्ञान)
८. समताल (गीत आदि के समताल का ज्ञान)
९. जुय (जुआ)
१०. जणवय (एक प्रकार का जुआ)
११. पासय (पासे का ज्ञान)
१२. अट्टावय (चौपड़)
१३. पोरेकन्व (शीघ्रकवित्व)
१४. दगमट्टिय (मिश्रित द्रव्यों का पृथक्करण विद्या)
१५. अणविहि (पाकविद्या)

१६. पाणविहि (पानी स्वच्छ करने और उसके गुण दोष परखने को विद्या अथवा जल-पान की विधि)
१७. वत्थविहि (वस्त्र पहनने की विद्या)
१८. विलेषणविहि (केशर, चंदन आदि के लेपन करने की विद्या)
१९. सयाविहि (पलंग, बिस्तर आदि के परिणाम का ज्ञान अथवा शयन सम्बंधी ज्ञान)
२०. अज्ज (आर्या छंद के भेद-प्रभेदों का ज्ञान)
२१. पहेलिय (पहेली का ज्ञान)
२२. मागहिय (मागधी छंद का ज्ञान)
२३. गाहा (गाथा का ज्ञान)
२४. सिलोय (श्लोक के भेद-प्रभेदों का ज्ञान)
२५. हिरणजुत्ती (सुवर्ण के आभूषण पहनने का ज्ञान)
२६. सुवणजुत्ती (सुवर्ण के आभूषण पहनने का ज्ञान)
२७. चुणजुत्ती (स्नान, मंजन आदि के लिए चूर्ण बनाने की युक्ति)
२८. आभरणविहि (आभरण पहनने की विधि)
२९. तरुणीडिकम्म (युवतियों के सुंदर होने की विधि)
३०. इत्थीलक्खण (स्त्रियों के लक्षण का ज्ञान)
३१. पुरिसलक्खण (पुरुषों के लक्षण का ज्ञान)
३२. हयलक्खण (घोड़ों के लक्षण का ज्ञान)
३३. गयलक्खण (हाथियों के लक्षण का ज्ञान)
३४. गोणलक्खण (गायों के लक्षण का ज्ञान)
३५. कुल्कुडलक्खण (मुर्गों के लक्षण का ज्ञान)
३६. चक्कलक्खण (चक्र के लक्षण का ज्ञान)
३७. छत्तलक्खण (छह के लक्षण का ज्ञान)
३८. चम्मलक्खण (चमड़े के लक्षण का ज्ञान)
३९. दंडलक्खण (दंड के लक्षण का ज्ञान)
४०. असिलक्खण (तलवार के लक्षण का ज्ञान)
४१. मणिक्खण (मणि के लक्षण का ज्ञान)
४२. काकणीलक्खण (काकणी रत्न के लक्षण का ज्ञान)

४३. वत्थुविद्या (वास्तुविद्या)
४४. खंधारमाण (सेना के परिमाण का ज्ञान)
४५. नगरमाण (नगर के परिमाण का ज्ञान)
४६. वत्थुनिवेशरण (घर की नींव आदि रखने का ज्ञान)
४७. वूह (व्यूह रचना का ज्ञान)
४८. पडिवूह (प्रतिद्वंद्वी के व्यूह का ज्ञान)
४९. चार (ग्रहों की गति आदि का ज्ञान)
५०. प्रतिचार (ग्रहों की प्रतिकूल गति का ज्ञान)
५१. चक्रव्यूह
५२. गरुडव्यूह
५३. शकटव्यूह
५४. जुद्ध (युद्ध)
५५. निजुद्ध (मल्लयुद्ध)
५६. जुद्धातिजुद्ध (घोरयुद्ध)
५७. मुट्टिजुद्ध (मुष्टियुद्ध)
५८. बाहुजुद्ध (बाहुयुद्ध)
५९. लयायुद्ध (लता की भांति शत्रु से लिपटकर युद्ध करना)
६०. इसत्थ (इषु अर्थात् बाण और अस्त्रों का ज्ञान)
६१. छरुप्पवाय (खड्गविद्या)
६२. धणुव्वेय (धनुर्वेद)
६३. हरिणपाग (चांदी बनाने की कीमिया)
६४. सुव्वणपाग (सोना बनाने की कीमिया)
६५. वट्टखेड (वस्त्र का खेल बनाना)
६६. सुत्तेखड (रस्सी या डोरी से खेल करना)
६७. णलियाखेड (एक प्रकार का जुआ)
६८. पत्तेच्छेज्ज (पत्ररचना)<sup>१</sup>
६९. कउच्छेज्ज (अनेक वस्तुओं को क्रमशः छेदना)
७०. सज्जीव (मृत धातुओं को स्वाभाविक रूप से लाना)
७१. निज्जीव (सुवर्ण आदि धातुओं का मारना)

७२. सेउणरुअ<sup>३</sup> (शकुन और विभिन्न आवाजों का ज्ञान)<sup>३</sup>।

रायपसेणीय और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक उपांग की टीका में भी इन कलाओं के उल्लेख हैं।

आजीविक श्रमण -

- दुर्घरंतरिया : एक घर में भिक्षा ग्रहण कर दो घर छोड़कर भिक्षा लेने वाले।
- तिघरंतरिया : एक घर में भिक्षा ग्रहण कर तीन घर छोड़ कर भिक्षा लेने वाले।
- सत्तघरंतरिया : एक घर में भिक्षा ग्रहण कर सात घर छोड़कर भिक्षा लेने वाले।
- उप्पबेटिया : कमल में डंठल खाकर रहने वाले।
- घरसमुदाणिय : प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले।
- विज्जुअंतरिया : बिजली गिरने के समय भिक्षा न लेने वाले।
- उट्टियसमण : किसी बड़े मिट्टी के बर्तन में बैठकर तप करने वाले। औपपातिकसूत्र के अनुसार ये आजीविक श्रमण मरकर अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। आजीविक मत के गोशालक आदि का उल्लेख भगवतीसूत्र शतक १५ में भी है।
- अन्य श्रमण : आजीविकों के अतिरिक्त कुछ अन्य श्रमणों के उल्लेख भी औपातिक सूत्र में हैं,
- अत्तुक्कोसिय : आत्मप्रशंसा करने वाले।
- परपरिवाइय : परनिंदा करने वाले, अवर्णवादी।
- भूइकम्मिय : ज्वरग्रस्त लोगों को भूति (राख) देकर निरोग करने वाले।
- भुज्जो-भुज्जो काउयकारक- वृद्धि के लिए बार-बार स्नान आदि करने वाले।
- सात निहनव : औपपातिकसूत्र में जैन संघ में हुए सात निहनवों का भी उल्लेख है।
- बाहुरस : इस मत के अनुसार कार्य क्रिया के अंतिम समय में पूर्ण

होता है, क्रियमाण व्यवस्था में नहीं। इस बात का प्रवर्तक जमालि<sup>१</sup> था।

जीवप्रदेशिक : जीव में एक भी प्रदेश के पूर्ण होने पर वह एक प्रदेश हो जीव है। तिष्यगुप्त इस मत के प्रवर्तक माने जाते हैं।<sup>२</sup>

अवक्तव्यवादी : इस मत के अनुसार समस्त जगत् अव्यक्त है। कौन वस्तुतः क्या है, यह बताना कठिन है। आषाढाचार्य इस मत के प्रवर्तक कहे जाते हैं।

सामुच्छेदिक : ये लोग सत्ता को क्षणस्थायी स्वीकार करते हैं। अश्वमित्र इस मत के संस्थापक माने जाते हैं। वस्तुतः, यह मत बौद्ध परम्परा से प्रभावित है।

दोहियावादी : इस मत के अनुसार जीव एक ही समय में शीत और उष्ण वेदना का अनुभव करता है। गंगाचार्य इस मत के प्रवर्तक हैं।

भैराशिक : ये लोग जीव, अजीव और नोजीव रूप त्रिजीव रूप त्रिराशि को मानते हैं। रोहगुप्त इस मत के प्रवर्तक हैं।

इस उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि औपपातिकसूत्र के इस अंश की रचना वी.नि.संवत् ५८४ अर्थात् ईसा की प्रथम शती के बाद ही हुई है।

राजप्रश्नीय में सूर्याभदेव के कथानक में जिनभवन, प्रेक्षागृह आदि का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे यह विदित होता है, उस काल तक शिल्पकला, नृत्यकला आदि सम्यक् प्रकार से विकसित हो गई थीं। उस काल में विशाल प्रेक्षागृह बनने लगे थे और लोग उनमें बैठ वाद्य, नृत्य आदि का आनंद लेते थे। राजप्रश्नीय में निम्न वाद्यों का उल्लेख उपलब्ध है-

शंख, श्रृंग, श्रृंगिका, खरमही (काहला), पेया (महती), पिरिपिरिका (कोलिकमुखा वनद्धमुखवाद्य), पणव (लघुपटह) पटह, भभा (ढक्का), होरम्भा (महाढक्का), भैरो (ढक्काकृति वाद्य), झल्लरी<sup>३</sup> (चर्मविनद्धा पिस्तोर्णवलयाकारा), दुन्दुभी (भेर्याकारा संकटमुखी देवातोद्य<sup>४</sup>), मुरज (महाप्रमाण मर्दल), मृदंग (लघु मर्दल), नंदी मृदंग (एकतः संकीर्ण अन्यत्र विस्तृतो मुरजविशेषः) आलिंग (मुरज वाद्य विशेष<sup>५</sup>), कुस्तुंब (चमुवनद्धपुटो

वाद्य), गोमुखी, मर्दल (उभयतः सम)<sup>६</sup> वीणा, विपंची (त्रितंत्री वीणा), वल्लकी (सामान्यतो वीणा) महती, कच्छभी (भारती वीणा), चित्रवीणा, सबद्धी, सुबोषा, नदिघोषा, भ्रामरी, षडभ्रामरी, वरवादनी (सप्ततंत्री वीणा), तूणा, तुम्बवीणा, (तुंबयुक्त वीणा), आमोद झञ्झा, नकुल, मुकुंद (मुरज वाद्यविशेष) हुडुक्का,<sup>१</sup> 'विचिक्री, करटा', डिंडिम, किणित, कडंब, दर्दर, दर्दरिका (यस्य चतुर्भिश्चरणेरवस्थानं भूवि स गोधाचार्मावनद्धो, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०१), कलशिका, महुया, तल, ताल, कांस्यताल, रिगिसिका (रिगिसिंगिका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), लत्तिया, मगरिका, शिशुभारिका, वंश, वेणु, वाली (तूणविशेषः, स हि मुखे दत्वा वाद्यते) परिली और बद्धक (पिरलोबद्धक तृणरूपवाद्यविशेषौ, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, पृ. १०१)३ (५९)। इन वाद्यों के अतिरिक्त राजप्रश्नीय नामक उपांग में निम्न नाट्यविधियों का भी उल्लेख है।

नाट्यविधि : तत्पश्चात् सूर्याभदेव ने बत्तीस प्रकार की नाट्यविधियों का प्रदर्शन किया।

इस प्रसंग पर अभिनीत बत्तीस प्रकार की नाट्यविधियों का उल्लेख इस प्रकार है -

१. स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंदावर्त्त, भ...स, कलश, मत्स्य और दर्पण के दिव्य अभिनय<sup>१</sup>।
२. आवर्त्त, प्रत्यावर्त्त, श्रेणी, प्रश्रेणी, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्मानव, वर्धमानक (सरावसंपुट), मत्स्याण्डक, मकराण्डक<sup>२</sup>, जार, मार<sup>३</sup>, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरंग, बसंतलता और पद्मलता<sup>४</sup> के चित्र का अभिनय।
३. ईहामृग, वृषभ, घोड़ा, नर, मगर, पक्षी, सर्प, कित्रर, रुरु, शरभ, चमर, कुंजर<sup>५</sup>, वनलता, पद्मलता के चित्र का अभिनय।
४. एकतोवक्र, द्विधावक, एकतश्चक्रवाल, द्विध्वाचक्रवाल, चक्रार्ध, चक्रवाल का अभिनय।
५. चन्द्रावलिका प्रविभक्ति, सूर्यावलिका प्रविभक्ति, वलयावलिका प्रविभक्ति, इंसावलिका<sup>६</sup> प्रविभक्ति, एकावलिका प्रविभक्ति, तारावलिका प्रविभक्ति, मुक्तावलिका प्रविभक्ति, कनकावलिका प्रविभक्ति और रत्नावलिका प्रविभक्ति का अभिनय।

६. चंद्रोद्गमन दर्शन और सूर्योद्गमन दर्शन का अभिनय।
७. चंद्रागम दर्शन, सूर्यागम दर्शन का अभिनय।
८. चंद्रावरण दर्शन, सूर्यावरण दर्शन का अभिनय।
९. चंद्रास्त दर्शन, सूर्यास्त दर्शन का अभिनय।
१०. चंद्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षस मण्डल, गन्धर्वमण्डल<sup>६</sup> के भावों का अभिनय।
११. द्रुतविलम्बित अभिनय। इसमें वृषभ और सिंह तथा घोड़े और हाथी की ललित गतियों का अभिनय है।
१२. सागर और नागर के आकारों का अभिनय।
१३. नन्दा और चम्पा का अभिनय।
१४. सत्स्यांड, मकरांड, जार और मार की आकृतियों का अभिनय।
१५. क, ख, ग, घ, ङ. की आकृतियों का अभिनय।
१६. च वर्ग की आकृतियों का अभिनय।
१७. ट वर्ग की आकृतियों का अभिनय।
१८. प वर्ग की आकृतियों का अभिनय।
१९. अशोक, आम्र, जंबू, कोशम्ब के पल्लवों का अभिनय।
२०. त वर्ग की आकृतियों का अभिनय।
२१. पद्मनाम, अशोक, चंपक, आम्र, वन, वासन्ती, कुंद, अतिमुक्तक और श्यामलता का अभिनय।
२२. द्रुतनाट्य।
२३. विलंबितनाट्य।
२४. द्रुतविलंबित नाट्य।
२५. अंचित<sup>३</sup>।
२६. रिभित ।
२७. अंचिरिभित।
२८. आरभट<sup>४</sup>।
२९. भसोल (अथवा भसल)।<sup>५</sup>
३०. आरभटभसोल ।
३१. उत्पात, निपात, संकुचित, प्रसारित रयारइय, भ्रान्त और सभ्रान्त

क्रियाओं से सम्बंधित अभिनय।

३२. महावीर के च्यवन, गर्भसंहरण, जन्म, अभिषेक, बालक्रीड़ा, यौवनदश, काभोगलीला २, निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानप्राप्ति, तीर्थप्रवर्तन और परिनिर्वाण सम्बंधी घटनाओं का अभिनय (६६-८४)।
१. नाट्यशास्त्र में रेचिता जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में रोचकरेचित पाठ है। आरभटी शैली से नाचने वाले नट मण्डलाकार रूप में रेचक अर्थात् कमर, हाथ और ग्रीवा मटकाते हुए रास नृत्य करते थे- वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्ष-चरित, पृ. २३
२. इससे महावीर की गृहस्थावस्था का सूचन होता है।
३. पटह आदि वाद्य तत, वीणा आदि वितत, कांस्यताल आदि घन और शंख आदि शुषिर के उदाहरण समझने चाहिए। चित्रावली (७३-८) में तंत और वितंत का उल्लेख है। तंत अर्थात् तार के और वितंत अर्थात् बिना तार में मढ़े हुए बाजे।
४. जीवाजीवाभिगम (पृ. १८५ अ) में पायंत की जगह पवत्तय (प्रवृत्तक) पाठ है।
५. गीत को सप्तस्वर और अष्टरस संयुक्त, छः दोषरहित और आठ गुणसहित बताया गया है- देखिए, जीवाजीवाभिगम, पृ. १८५ आ।
६. टीकाकार ने नाट्य और अभिनयविधि की व्याख्या न करके इन विधियों को नाट्य के विशारदों से समझने के लिए कहा है।

जीवों के प्रकार -

जीवाजीवाभिगम तीसरा उपांग है। इसमें महावीर और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है। इसमें ९ प्रकरण (प्रतिपत्ति) और २७२ सूत्र हैं। तीसरा प्रकरण सब प्रकरणों से बड़ा है, जिसमें देवों तथा द्वीप और सागरों का विस्तृत वर्णन किया गया। जीवाजीवाभिगम के टीकाकार मलयगिरि ने इसे स्थानांग का उपांग बताया है। इस उपांग पर पूर्वाचार्यों ने टीकाएं लिखी थीं, जो गम्भीर और संक्षिप्त होने के कारण दुर्बोध थीं, इसलिए मलयगिरि ने यह विस्तृत टीका लिखी है। मलयगिरि ने अनेक स्थानों पर वाचनाभेद होने का उल्लेख किया है। इसमें सर्वप्रथम जीवों का उल्लेख है।



संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं- त्रस और स्थावर (सूत्र ९)। स्थावरजीव तीन प्रकार के होते हैं- पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय (१०)। बादर वनस्पतिकाय बारह होते हैं- वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग (ईख आदि), तृण, वलय (कदली आदि जिनकी त्वचा गोलाकार हो), हरित (हरियाली), औषधि, जलरुह (पानी में पैदा होने वाली वनस्पति), कुहण (पृथ्वी को भेदकर पैदा होने वाला वृक्ष) (२०)। साधारण बार वनस्पतिकायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं (२१)। त्रस जीव तीन प्रकार के होते हैं - तेजस्काय, वायुकाय और औदारिक त्रस<sup>१</sup> (२२)। औदारिक त्रस चार प्रकार के होते हैं - दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय वाले (२७)। पंचेन्द्रिय चार प्रकार के होते हैं - नारक, तिर्यञ्च तीन प्रकार के होते हैं- जलचर, थलचर और नभचर (३४)। थलचर जीव चार प्रकार के होते हैं। एक खुर, दोखुर, गंडीपय और सणप्पय (सनखपद) (३६)। नभचर जीव चार प्रकार के होते हैं- चम्पपक्खी, लोमणक्खी, समुग्गपक्खी और विततपक्खी (३६)। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं- संमुच्छिम मनुष्य और गर्भोत्पन्न मनुष्य (४१)। देव चार प्रकार के होते हैं- भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक (४२)।

रत्न के नाम -

इसी प्रसंग में इसमें सोलह प्रकार के रत्न का उल्लेख है- रत्न वज्र, वैदूर्य लोहित, मसारगल्ल, हंसगर्भ पुलक, सौगन्धिक, ज्योतिरस, अंजन, अंजनपुलक, रजत, जातरूप, अंक स्फटिक अरिष्टि (६९)। प्रज्ञापना नामक उपांग में भी इनका उल्लेख है।

अस्त्र-शस्त्रों के नाम- मुद्गार, मुसुंढि, करपत्र (करवत), असि, शक्ति, हल, गदा, मृसल, चक्र, नाराच, कुंत, तामर, शूल, लकुट, भिडिपाल<sup>२</sup> (८९)।

धातुओं के नाम- लोहा, ताम्बा, सीसा, रूप्य, सुवर्ण, हिरण्य, कुंभकार की अग्नि, ईंट पकाने की अग्नि, कवेलू पकाने की अग्नि, यंत्रपाटक चुल्ली (जहां गन्ने का रस पकाया जाता है) (८९)।

मद्यों के नाम -

चन्द्रप्रभा (चन्द्रमा के समान जिसका रंग हो) मणिशलाका, वरसीधु, वरवारूणी, फलनिर्याससार (फलों के रस से तैयार की हुई मदिरा),

पत्रनिर्याससार, पुष्पनिर्याससार, चोयनिर्याससार, बहुत द्रव्यों को मिलाकर तैयार की हुई, संध्या के समय तैयार हो जाने वाली, मधु, मेरक, रिष्ठ नामक रत्न के समान वर्णवाली (इसे जम्बूपफलकलिका भी कहा गया है), दुग्धजाति (पानी में दूध के समान मालूम होती हो), प्रसन्ना, नेल्लक (अथवा तल्लक) शतायु (सौ बार शुद्ध करने पर भी जैसी की तैसी रहने वाली), खजूरमार, मृद्रीकासार (द्वाक्षासद), कापिशायन, सुपक्क, क्षोदरस (ईंख के रस को पकाकर बनाई हुई)। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति एवं प्रज्ञापना में भी इनका उल्लेख है।

### पात्रों का नाम -

बारक (मंगल घट), घट, करक, कलश, कक्करी<sup>१</sup>, पादकाञ्चनिका (जिससे पांव धोए जाते हों), उदंक (जिससे जल का छिड़काव किया जाए), बद्धणी (वार्धनी-गलंतिका-छोटी कलसी, जिसमें से पानी रह-रहकर टपकता हो), सुपविट्टर (पुष्प रखने का पात्र), पारी (दूध दोहने का बर्तन : हिन्दी में पाली), चषक (सुरा पीने का पात्र), भण्डार (झारी), करोडी (करोटिका), सरग (मदिरापात्र), धरग (?), पात्रीस्थल, पत्थग (नल्लक), चवलित (चपलित) अपदवया जीवाभिगम के अतिरिक्त जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक उपांग में भी इनका उल्लेख है।

### आभूषणों के नाम -

हार (जिसमें अठारह लड़ियां हों), अर्धहार (जिसमें नौ लड़ियां हों) वट्टणग (पेष्टनक, कानों का आभरण), मुकुट, कुण्डल, वातुत्तग (व्यागुक्तक, लटकने वाला गहना), हेमजला (छेद वाला सोने का आभूषण), मणिजाल, कनकजाल, सूत्रक (वैकक्षककृतं सुवर्णासूत्रं-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, पृ. १०५ - यज्ञोपवीत की तरह पहना जाने वाला आभूषण), उचितकडग (उचितकटिकानि- योग्यवलयानि, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका), खुडुग (एक प्रकार की अंगूठी), एकावली, कण्ठसूत्र, मगरिय (मगर के आकार का आभूषण)<sup>२</sup>, उरत्थ (वक्षस्थल पर पहनने का आभूषण), ग्रैवेयक (ग्रीवा का आभूषण), श्रोणिसूत्र (कटिसूत्र), चूडामणि, कनकतिलक, फुल्ल (फूल), सिद्धार्थक (सोने की कण्डी), कण्णवालि (कानों की बाली), शशि, सूर्य, वृषभ, चक्र (चक), तलभंग (हाथ का आभूषण), तुडअ (बाहु का आभूषण), हत्थिमालग

(हस्तमालक), वलभ (गले का आभूषण), दीनार-मालिका, चंद्र-सूर्यमालिका, हर्षक, केयूर, वलय, प्रालम्ब (झुमका), अंगु-लोयक (अंगूठी), कांची, मेखला, पयरग (प्रतर), पादजाला (पैरों का आभूषण), घंटिका, किंकिणी, रयणोरुजाल (रत्नोरुजाल), नूपुर, चरणमालिका, कनकनिकरमालिका।

### भवनों के विभिन्न विभाग-

प्राकार, अट्टालग (अटारी), चरिय (गृह और प्राकार के बीच का मार्ग), द्वार, गोपुर, प्रासाद, आकाशतल, मण्डप, एकशाला (एक घर वाला मकान), द्विशाला, त्रिशाला, चतुःशाला, गर्भगृह, मोहन-गृह, चौकोण घर, नन्द्यावर्त, पंडुरतलहर्म्य (जिसमें शिखर न हो), धवलगृह (धरहरा), अर्धमागधविभ्रम<sup>३</sup> (?), शैलसंस्थित (पर्वत के आकार का), शैलार्धसंस्थित, कूटागार, सुविर्धिकोष्क, शरण (झोपड़ी आदि), लयन (गुफा) विडंक (प्रासाद के अग्रभाग में कबूतरों के रहने का स्थान), जालवृन्द (गवाक्षसमूह), निर्यूह (खूंटी अथवा द्वार), अपवरक (भीतर का कमरा), दीवाली (?), चंद्रशालिका।

### वस्त्रों के नाम -

आजिनक (चमड़े का वस्त्र), क्षौम, कम्बल, दुकूल, कौशेय, कालमृग के चर्म से बना वस्त्र, पट्ट, चीनांशुक, आभरणचित्र (आभूषणों से चित्रित), सहिणगकलणग (सूक्ष्म और सुंदर वस्त्र) तथा सिन्धु द्रविड़ वंग, कलिंग आदि देशों में बने वस्त्र।

### मिष्टान्त के नाम-

गुड़, खांड, शक्कर, मत्स्वण्डी (मिसरी), बिसकंद, पर्पट-मोदक, पुष्पोत्तर, पद्मोत्तर, गोक्षीरा।

### बस्तियों के विभिन्न प्रकार -

ग्राम १, नगर, निगम (जहां बहुत से वणिक् रहते हों), खेट (जिसके चारों ओर मिट्टी का परकोआ बना हो), कर्बट (जो चारों ओर से पर्वत से घिरा हो), मडंब (जिसके चारों ओर पांच कोस तक कोई ग्राम न हो), पट्टण (जहां विविध देशों से माल आता हो), द्रोणमुख (जहां अधिकतर जलमार्ग

से आते-जाते हों), आकर (जहां लोहे की खानें हों), आश्रम, संबाध (जहां यात्रा के लिए बहुत से लोग आते हों), राजधानी, सन्निवेश (जहां सार्थ आकर उतरते हों)

**प्रशासकों एवं श्रेष्ठियों के नाम-**

राजा, युवराज, ईश्वर (अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से सम्पन्न), तलवर ३ (नगररक्षक, कोतवाल), माडम्बिय (मडम्ब के नायक), कौटुम्बिक (अनेक कुटुम्बों के आश्रयदाता राजसेवक), इम्य (प्रचुर धन के स्वामी), श्रेष्ठी (जिनके मस्तक पर देवता की मूर्ति सहित सुवर्णपट्ट बंधा हो), सेनापति, सार्थवह (सार्थ का नेता)।

**दासों के प्रकार -**

दास (आमरण दास), प्रेव्य (जो किसी काम के लिए भेजे जा सकें), शिष्य, भृतक (जो वेतन लेकर काम करते हों), भाइल्लग (भागीदार), कर्मकर<sup>१</sup>।

**गृहस्थ जीवन की विविध क्रियाएं -**

आवाह (विवाह के पूर्व ताम्बूल इत्यादि देना), विवाह यज्ञ (प्रतिदिन इष्टदेवता की पूजा), श्राद्ध, थालीपाक (गृहस्थ का धार्मिक कृत्य), चेलोपनयन (मुण्डन), सीमंतोन्नयन (गर्भ का संस्कार), मूतपिडनिवेदन।

**मेलों एवं उत्सवों के नाम -**

इंद्रमह, स्कंदमह, रुद्रमह, शिवमह, वैश्रमणमह, मुकुंदमह, नागमह, यक्षमह, भूतमह, कूपमह, तडागमह, नंदीमह, हृदमह, पर्वतमह, वृक्षारोपणमह, चैत्यमह, स्तूपमह।

**नट आदि कलाकारों के नाम -**

नट (बाजीगर), नर्तक, मल्ल (पहलवान), मौष्टिक (मुष्टियुद्ध करने वाले), विडम्बक (विदूषक), कहग (कथाकार), प्लवग (कूदने-फांदने वाले), आख्यायक, लासक (रास गाने वाले), लंख (बांस के फड़ पर चढ़कर खेल करने वाले), मंख (चित्र दिखाकर भिक्षा मांगने वाले), तूण बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, कावण (बहंगी ले जाने वाले), मागध, जल्ल (रस्सी पर खेल करने वाले)।

## यानों के नाम-

शकट, रथ, यान (गाड़ी), जुग (गोल्ल देश में प्रसिद्ध दो हाथ प्रमाण चौकोर वेदी से युक्त पालकी जिसे दो आदमी ढोकर ले जाते हों), गिल्ली (हाथी के ऊपर की अम्बारी, जिसमें बैठने से आदमी दिखाई नहीं देता), थिल्ली (लाट देश में घोड़े की जीन को थिल्ली कहते हैं। कहीं दो खच्चरों की गाड़ी को थिल्ली कहा जाता है), शिबिका (शिखर के आकार की ढंकी हुई पालकी), स्यन्दमानी (पुरुषप्रमाण लम्बी पालकी)।

अनर्थ के निर्यिक्त ग्रहदण्ड, ग्रहमुशल, ग्रहगर्जित (ग्रहों के सच्चार से होने वाली आवाज), ग्रहयुद्ध, ग्रहसंघाटक (ग्रह की जोड़ी), अग्रअपराव्यक (ग्रह का प्रतिकूल होना), अभ्र (बादल), अभ्रवृक्ष (बादलों का वृक्षाकार परिणत होना), सन्ध्या, गन्धर्वनगर (बादलों का देवताओं के नगर-रूप में परिणत होना), गर्जित विद्युत् उत्कापात, दिशादाह, निर्घात (बिजली का गिरना), पांशुवृष्टि, यूपक (शुक्ल पक्ष के द्वितीया आदि तीन दिनों में चंद्र की कला और संध्या के प्रकाश का मिलन) यक्षदीप्पक, धूमिका (धूंआसा), महिका (कुहरा), रज-उद्घात (दिशाओं में धूल का फैल जाना), चन्द्रोपराग (चंद्रग्रहण), सूर्योपराग (सूर्यग्रहण), चण्डपरिवेश, प्रतिचंद्र, प्रतिसूर्य, इंद्रधनुष, उदकमत्स्य (इंद्रधनुष का एक टुकड़ा), कपिहसित (आकाश में अकस्मात् भयंकर शब्द होना), प्राची वात, अप्राचीवात, शुद्धवात, ग्रामदाह, नगरदाह आदि।

## कलह की विभिन्न अवस्थाएं -

डिम्ब (अपने देश में कलह), डमर (परराज्य द्वारा उपद्रव), कलह, बोल, खार (मात्सर्य), पैर, विरुद्ध राज्य।

## युद्ध का स्वरूप -

महायुद्ध, महासंभ्रम, महाशस्त्रनिपतन, महापुरुषबाण, महारुधिरबाण, नागबाण, तामसबाण।

## रोगों के नाम -

दुर्भूत (अशिव), कुलरोग, ग्रामरोग, नगररोग, भण्डलरोग, शिरोवेदना, अभिवेदना, कर्णवेदना, नासिकावेदना, दंतवेदना, नखवेदना, कास (खांसी), श्वास, ज्वर, दाह, कच्छू (खुजली), खसर, कोढ़, अर्श, अजीर्ण, भगन्दर,

इंद्रग्रह, स्कंदग्रह, नागग्रह, भूतपह, उद्वेग, एकाहिका (एक दिन छोड़कर ज्वर आना), द्वयाहिका (दो दिन छोड़कर ज्वर आना), व्याहिका, चतुर्थका (चौथिया), हृदयशूल, मस्तकशूल, पार्श्वशूल, कुक्षिशूल, योनिशूल, मारी (जीवाभिगम १११)।

देवों के प्रकार -

देव चार प्रकार के होते हैं - भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिका। भवनवासी दस होते हैं- असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, दीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार (जीवाभिगमसूत्र ११४-१२०)। व्यन्तरों के अनेक प्रकार हैं - पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, भुजगपति, महाकाय, गंधर्वगण आदि (वहीं सूत्र १२१), ज्योतिष्क देवों का वर्णन सूत्र १२२ में है।

प्रज्ञापनासूत्र में उल्लेखित जीवन के विविध रूप एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के हैं- पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक (१०)। बादर पृथिवीकायिक अनेक प्रकार के हैं- शुद्ध पृथिवी, लोहा, तांबा, जस्ता, सीसा, चांदी, सुवर्ण, वज्ररत्न, हड़ताल, हिंगुल (सिंगरफ), मणसिल (मैनसिल), सासग (पारा), अंचन, प्रवाल, अभ्रपटल (अभरख), अभ्ररूचक, अडक, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारनल्ल, भुजमोचक, इंद्रनील, चंदनरत्न, गैरिक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिकक, चंद्रप्रभ, वैदूर्य, जलकांत, सूर्यकांत इत्यादि। खरबादर पृथिवीकायिक है (२५)। बादर अप्कायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं - अवश्याय (ओस), हिम, महिका (कुहरा), करक (ओला), हरतनु (वनस्पति के ऊपर की पानी की बूंदें), शुद्धोदक, शीतोदक, उष्णोदक, क्षारोदक, खट्टा, उदक, अम्लोदक, लवणोदक, वारुणोदक (मदिरा के स्वादवाला पानी), क्षीरोदक, धृतोदक, क्षोदोदक (ईख के रस जैसा पानी) और रसोदक (१६)। बादर तेजस्कायिक अनेक प्रकार के हैं - अंगार, ज्वाला, मुर्मुर (राख में मिले हुए आग के कण), अर्चित (इधर-उधर उड़ती हुई ज्वाला), अलात (जलता हुआ काष्ठ), शुद्धाग्नि, उल्का, विद्युत, अशानि (आकाश से गिरते हुए अग्निकण), निर्धात (बिजली का गिरना), रगड़ से उत्पन्न और सूर्यकांतमणि से निकली हुई अग्नि (२७)। बादर वायुकायिक अनेक प्रकार के हैं - पूर्व में बहने वाली वायु, पश्चिम से बहने वाली वायु,

दक्षिण वायु, उत्तर वायु, उर्ध्व वायु, उधो वायु, तिर्यक् वायु, विदिशा की वायु, वातमण्डली, उत्कलिकावात (बहुत-सी तरंगों से मिश्रित वायु), मण्डलिकावात (मण्डलाकार वायु), गुंजावात (गूँजती हुई वायु), झंझावात (वृटि-सहित), संवर्त्तक वायु, तनुवात, शुद्धवात (१८)।

वनस्पति जीवन के प्रकार हैं- वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग (पर्व वाले), तृण, वलय (केला आदि, जिनकी छाल गोलाकार हो), हरित, औषधि, जलरूह (जल में पैदा होने वाली वनस्पति), कुहणा (भूमिस्फोट), (२२)।

वृक्ष दो प्रकार के होते हैं - एक बीज वाले व अनेक बीज वाले। एक बीज वालों में आम, जामुन, कोशाग्र (जंगली आम), शाल, अंगोल (पिश्टे का पेड़), पीलु, सेलु (श्लेष्मातक-लिसोड़ा), सल्लको, मोचको, मालुक, बकुल (मोलसिरी), पलाश (कंसू या टूसू), करंज (करिंजा), पुत्रंजीवक (जियापीता), अरिष्ट (अरीटा), विभीतक (बहेड़ा), हरितक (हरड़ा), भिलावा, उंबेभरिका, क्षीरिणी, धातकी (धाय), प्रियाल, पूर्तिर्निबकरंज, सुहा (श्लक्षणा), सीसम, असन (बीजक), पुत्राग (नागकेसर), नागवृक्ष, श्रावर्णी, अशोक (३१-३२)। अनेक बीजवाले वृक्षों में अस्थिक, तिन्दुक (तेंदू), कपित्थक (कैथ), अम्बाडक, मातृतिंग (बिजोरा), बिल्व (बेल), आप्रातक (आंवला), फणस (कटहल), दाडिम, अश्वत्थ (पीपल), उदुम्ब, वट, न्यग्रोध, नन्दिवृक्ष, पीपल, सयरी (सतावरी), प्लक्ष, काकोदुम्बरी (धनिया, पाइअसद्दमहण्णव), देवदाली, तिलक, लकुच (एक प्रकार का कटहल), छत्रोध, शिरीष, सप्तवर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धाव, चंदन, अर्जुन, नीप, कुटल, कदम्ब (२३)।

बाईगणि (बैंगन), सत्यकी, थुण्डकी, कच्छरी (कपिकच्छु केवांच-पाइअसद्दमहण्णव), जातुमणा (जपा), रूपी, आढकी, नीलो, तुलसी, मातुलिंगी, कुस्तुम्बरी (धनिया), पिप्पलिका (पीपल), अलसी, वल्ली काकमाची, वुच्चु (?), पओलकन्दली, पिउव्वा, वतथुल, बदर (बेर), पत्तउर, सीमउर, जवसय (जवासा), निर्गुण्डी, अत्थई, तलउडा, सन, पाण, कासमद्द, अग्धाडग (अपामार्ग, चिचड़ा-पाइअसद्दमहण्णव), श्यामा, सिंदुवार (समहाल), करमद्द (करोँदा), अद्दरूसग (अडूसा), करीर, ऐरावण, महिन्थ जाउलग, भालग, परिली, गजमारिणी, कुव्वकारिया, भंडी (मंजीठ), जीवन्ती,

केतकी, गंज, पाटला (पाढल), दासि, अंकोल (२३)।

सैरियक, नवमालिका, कोरंटक, बंधुजीवक (दुपहरिया), मनोज, पिड़य, पाण, कणेर, कुब्जक (सफेद गुलाब), सिंदुवार, जाती, मोगरा, जूड़ी, मल्लिका, वासन्ती, वत्थुल, कत्थुल, सेवाल, ग्रंथी, मृगदन्तिका, चम्पकजाति, नवणीइया, कुंद, महाजाति (२३)।

पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चंपकलता, चूतलता, वनलता, वासन्तीलता, अतिमुक्तकलता, कुंदलता, श्यामलता (२३)।

वल्लियां (बेले)- पूसफली, कर्लींगी (जंगली तरबूज की बेल), तुम्बी, त्रपुषी (ककड़ी), एल्लवालुंकी (चिभ्रंट, एक तरह की ककड़ी), धोषातकी, पण्डोला, पच्चांगुलिका, नीली, कंगूया, कंडुइया, कडुइया, कंगकोडी (ककरेल), कारियल्लई (करेला), कुयधाय, वागुलीया पाववल्ली, देवदाली, आस्फोता, अतिमुक्तक, नागलता, कृष्णा, सूरवल्ली (सूरजमुखी की बेल), संगघटा, सुमणसा जासुवण, कर्विदवल्ली, मुट्टीका (अंगूर की बेल), अम्बावल्ली, क्षीरविदारिका, जयंती, गोपी, पाणी, मासावल्ली, गुजावल्ली, चच्छाणी (वत्सादनी, गजपीपल), शशबिंदू, गोत्रस्पर्शिका, गिरिकर्णिका, मालुका, अध्यजनकी, दुधिपुष्पिका काकणी, मोगली, अर्कबोंदि (२३)।

पर्वक (पर्व-गांठ वाले)- इक्षु, इक्षुवाटिका, वीरण इक्कड़, मास, सुण्ठ, शर, वेत्र (बेंत), तिमिर शतपोरक नल (एक प्रकार का तूण), बांस, बेलू (बांस का प्रकार), कनक (बांस का प्रकार), ककविंश, चापवंश, उदक, कुडक, विमत (अथवा विसय), कण्डावेण, कल्याण (२३)।

तृण- सेडिय, भंतिय, होंतिय, दर्श, कुश, पव्वय, पोडइल, अज्जुन, आषाढक, रोहितांश, सुय, वेय, क्षीर, भुस, एरंड, कुरुविढ, करकर, मुट्ट, विभंगु, मधुरतृण, धुरय, सिप्पिय, सुंकलीतृण (२३)।

वलय - ताल, तमाल, तक्कलि, तोयली, साली, सारकल्लाण, सरल (चीड़), जावती, केतकी, केला, धर्मवृक्ष, भुजवृक्ष (भोजपत्र वृक्ष), हिंगुवृक्ष, लवंगवृक्ष, पूगपफली (सुपारी), खजूरी, नालिकेरी (नारियल) (२३)।

हरित-अज्जोरूह, वोडाण, हरितक, तंदुलेजग, वत्थुल, पोराग, मज्जारय, बिल्ली, पालक, दकपिप्पली (जलपीपल) दर्वी, स्वस्तिक, साय, मंडूकी, मूली, सरसों, अंबील, उराल, फणिज्जक, अर्जक, भूजनक, चोरक, दमनक, मरवा, शतापुष्प, इंदीवर (२३)।

औषधियां-शांति व्रीहि, गोधुम (गेहूं), जौ, जवजव (एक प्रकार का



जौ), कलाय (मटर), मसूर, तिल, मूंग, माष (उड़द), निष्पव, कुलथी, आलिसंद, सडिण (अरहर), पलिमंथ (चना), अलसी, कुंसुंभी (कुंसुंबा), कोद्रव (कोंदो), कंगू, रालय, वरट्ट, साम, कोदूस (कोरदूषक), सन, सरसों, मूली के बीज (२३)।

जलरूह-उदक, अबक, पनक, सेवाल, कलंबुय, हढ, कसेरूय (कसेरू) कच्छ, भाणी, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सुगंधित, पुंडरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, कल्हार, कोकनद, तामरस, बिस, बिसमत्रणालं, पुष्कर, स्थलज, पुष्कर (२३)।

कुहण-आय, काय, कुहण, कुणक, दव्हलिय, सप्फाय, सज्जाय, छत्रौक, वंसी, णहिय, कुरय (२३)।

अनन्तकायिक वनस्पतिकाय जीव-अबक, पनक, सेवाल, रोहिणी, थीहू, थिभगा, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, सिउंडी, मुसुंदि, रूरू, कुण्डरिका, भीरू, क्षीरबिदारिका, किट्टी, हरिद्रा (हलदी), श्रृंगोर (अदरक), आलू, मूली, कबूंगा, कन्नुकड, महुपोवलइ (?), मधुश्रृंगी, नीरुह, स्वर्णसुगंध, छिन्नरूह, बीजरूह, पाढा, मृगवालुंकी, मधुररसा राजवल्ली, पद्मा, माढरी, दंती, चंडी, भाषपर्णी, मृद्गुपर्णी, जीवक, ऋषभक रेणुका, काकोलि, क्षीरकाकोली, भंगी, कृमिराशी, भद्रमुस्ता (मोथा), णंगलइ, पेलुगा, कृष्ण, पडल, हढ (जल वनस्पति), हरतनूक, लोयाणी, कृष्णकंद, वन्नकंद, सूरणकंद, खल्लूट<sup>१</sup> (२४)। इनके उल्लेख जीवाभिगम (२१) में भी हैं।

द्वीन्द्रिय जीव-पुलाकिमिय (गुदा में उत्पन्न कृमि), कुक्षिकृमि (पेट के कीड़े), गंडूयलग (गेंडुआ), गोलोम, णेउर, सोमंगलम, वंसीमुह, सूचिमुख, गोजलौका, जलौका, जालउय, शंख, शंखनक (छोटे शंख), घुल्ल, खुल्ल (क्षुद्र), द्विधा आवर्त्त, नंदियावत्त, संबुक्क (शंबुक), मातृवाह, सोपो, चंदनक, समुद्रलिक्ष<sup>१</sup> (२७)।

त्रीन्द्रिय-औपयिक, रोहिणिय, कुंथू, पिपीलिका (चींटी), उंदसग (डांस), उददेहिय (दीमक), उक्कलिया, उप्पाय (उत्पाद), उप्पाड (उत्पाटक), तणाहार (तृणाहारक), कट्टाहार (कष्टाहारक), मालुका (पत्राहारक), तणबेंटिय, पुप्फबेंटिय, झिल्लियं, झिंगिर, किंगिरिड, बाहुय, लहुय, सुभग, सौवस्तिक, सुयबेंट, इंदकायिक, इंदगोवय (इन्द्रगोप), तरतुंबग, कचछलवाहाग (अथवा कोत्थवाहन), जूय (जूं), हालाहल, पिसुय, (सयवाइय (

शतवादिका)), गोम्ही (कानखजूरा), हथिसौंड<sup>२</sup> (२८)।

चतुरिन्द्रिय जीव-अंधिय, पत्तिय, मच्छिय, मशक (मच्छर), कीट पतंग, ढंकुण (खटमल), कुक्कड, कुक्कुह, नंदावर्त, सिंगिरड (उत्तराध्ययन से भिंगिरीडी), कृष्णपत्र, नीलपत्र, लोहितपत्र, हारिद्रपत्र, शुलपत्र, चित्रपक्ष, विचित्रपक्ष, ओहंजलिय, जलचारिका, गंभीर, णोणिय, तंतव, अच्छिरोड, अक्षिवेध, सारंग, नेउर, दोल, भ्रमर, भरिली, जरूल तोट्ट, बिच्छू, पत्रबिच्छू, छाणबिच्छू, पियंगाल (अथवा सेइंगाल), कणग गोमय-कीड़ा (गोबर के कीड़े)<sup>३</sup> (२९)।

पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं - नैरयिक, तिर्यच्च, मनुष्य और देव (३०)।

तिर्यच्च तीन प्रकार के होते हैं - जलचर, थलचर और नभचर (३२)। जलचर-मत्स्य, मच्छप, ग्राह, मगर और सुंसमारा। मगर-सण्हमच्छ (श्लक्ष्णमत्स्य), खबल्लमत्स्य, जुंगमत्स्य, विज्जडिमत्स्य, हलिमत्स्य, मगरिमत्स्य (मगरमच्छ), रोहितमत्स्य, हत्तीसागर, गागर, वड, वडगर, गम्भय, उसगार, तिमि, तिमिगिल, णक्क (नाकू), तंदुलमत्स्य, कणिकामत्स्य, सालि, स्वस्तिकामत्स्य, लंभनमत्स्य, पताका, पताकांतियताका। कच्छप-अस्थिकच्छप, मांसकच्छपा। ग्राह-दिली, बेढग (वेष्टक), मुद्धय (मूर्धज), पुलक, सीमाकार। मगरी-सौंडमगर, मट्टमगर (३३)।

थलचर जीव चार प्रकार के होते हैं - एकखुर, दोखुर, गंडीपद और सनखपद (नखयुक्त पैरवाले)। एकखुर-अश्व, अश्वतर (खच्चर), घोड़ा, गर्दभ, गोरक्षर, कंदलग, श्रीकंदलग, आवर्तग। दो खुरवाले-ऊंट, गाय, गवय, रोझ, पसय, महिष, मृग, संवर, वराह, बकरा, भेंड, रूरू, शरभ, चमर, कुरंग, गोकर्णा। गंडीपद-हस्ती, हस्तीपयणग, संकुणहती, खडगी (गेंडे की जाति)। सनखपद-सिंह, व्याघ्र, द्वीपी, अच्छ (रीछ), तरक्ष, परस्सर (सरभाः, टीकाकार), गीदड़, बिडाल (बिलाड़ी), कुत्ता, कौलशनक<sup>४</sup> कोकंतिय (लोमठिकाः, टीकाकार<sup>५</sup>), ससग (ससा), चित्तग, चिलल्लग (३४)।

उरपरिसर्प- ये चार प्रकार के हैं - अहि, अजगर, आसालिका, महोरग। अहि दो प्रकार के होते हैं - दर्वीकर (फणधारी सांप) और मुकुली (फणरहित)। दर्वीकर-आशीविष, दृष्टिविष, उग्रविष, भोगविष, त्वचाविष, लालाविष, उच्छ्वासविष, निःश्वासविष, कृष्णसर्प, श्वेतसर्प, काकोदर दुग्धपुष्प, कोलाह,

मेलिमिंद, शेषेन्द्र। मुकुली-दिब्बाग, गोणस, कसाहीय, वड़उल, चित्तली, मण्डली, माली; अहि अहिसलाग, वासपताका (३५)।

भुजपरिसर्प- ये अनेक प्रकार के हैं - नकुल, सेह, सरड (शरट), शल्य, सरंट, सार, खोर, धरोइल (गृहकोकिल-छिपकली), विस्संभर, मूषक, मंगुस, पयलाइल (प्रचलावित), क्षीरविरालिय, जोह चतुष्पाक (३५)।

नभचर- ये चार प्रकार के होते हैं - चर्मपक्षी, लोमपक्षी, समुद्रगह पक्षी और विततपक्षी। चर्मपक्षी-बागुली, जलोय, अडिल्ल, भारंड पक्षी, जीवंजीव, समुद्रवायलं, कण्णत्तिय, पक्षीविरालिका। लोकपक्षी-ढंक, कंक, कुरल वायस, चक्रवाक, हंस, कलहंस, राजहंस, पायहंस, आड, सेडी, बक (बगुला), बलाका (बगुलों की जाति), पारिप्लव, कौच, सारस, मेसर, मसूर, मयूर, सप्तहस्त, गहर, पुण्डरीक, काक, कार्मिजुय, वंजुलग, तीतर, वट्टग (बतक), लावक, कपोता, कर्पिजल, पारावत, चटक (चिड़िया), चास, कुक्कुड (मुर्गा), शुक्र, बर्ही (मयूर), मदनशलाका, कायेल, सेह वरिल्लगं (३५)।

मनुष्य-मनुष्य तीन प्रकार के हैं - कर्मभूमक, अकर्मभूमक और अन्तरद्वीपक। अन्तरद्वीपक-एकोस्क, आभासिक, वैषाणिक, नांगोलिक, हर्यकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण, शष्कुलीकर्ण, आदर्शमुख, मेंढमुख, अयोमुख, गोमुख, अश्वमुख, हस्तिमुख, विद्युन्मुख, व्याघ्रमुख, अश्वकर्ण, आकर्ण, कणप्रायरण, उल्कामुख, मेघमुखं, विद्युतन्मुख, विद्युद्दन्त, घनदंत, लष्टदंत, गूढदंत, शुद्धदंत (२६)।

अकर्मभूमक तीस होते हैं- पांच हैमवत, पांच रिणयवत, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकवर्ष, पांच देवकुरु, पांच उत्तरकुरु (३६)।

कर्मभूमक तीस होते हैं - पांच भरत, पांच ऐरावत, पांच महाविदेह। ये दो प्रकार के होते हैं - आर्य और म्लेच्छ-शक, यवन, चिलात (किरात), शबर, बर्बर, मुरुंड, उड्ड (ओड्र), भडग, निण्णग, पक्कणिय, कुलक्ख, गौड, सिंहल, पारस, गोध, कौंच, अंध, दमिल (द्रविड), चिल्लल, पिलंद, हारोस, डोंब, बोक्कण, गंधहारग (?), बहलीक, उज्जल (जल?), रोमपास (?), बकुश, मलय, बंधुय, सूयलि, कौंकणग, मेय, पहनव, मालव, मग्गर, आभासिय, अणक्ख, चीण, लासिक, खस, खासिय, नेहुर, मोंढ, डोंबिलग, लओस, केकय, अक्खाण, हूण, रोमक, रूरु, मरूयं आदि (३७)।

आर्य दो प्रकार के होते हैं - ऋद्धिप्राप्त और अनुद्धिप्राप्त। ऋद्धिप्राप्त अरहंत, चक्रवर्ती, वलदेव<sup>३</sup>, वासुदेव, चारण और विद्याधर। अनुद्धिप्राप्त नौ प्रकार के होते हैं - क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य, भाषार्य, ज्ञानार्य दर्शनार्य और चारित्र्यार्य।

निम्न साढ़े पच्चीस (२५ १/२) देश के निवासी माने गए हैं -

जनपद	राजधानी
१. मगध	राजगृह
२. अंग	चम्पा
३. बंग	ताम्रलिसि
४. कलिंग	कांचनपुर
५. काशी	वाराणसी
६. कोशल	साकेत
७. कुरु	गजपुर
८. कुशावर्त	शैरीपुर
९. पांचाल	कांपिल्यपुर
१०. जांगल	अहिच्छत्रा
११. सौराष्ट्र	द्वारवती
१२. विदेह	मिथिला
१३. वल्प	कौशांबी
१४. शांडिल्य	नंदिपुर
१५. मत्य	उद्रिलपुर
१६. मस्य	बैराठ
१७. वरुण	अच्छा
१८. दशार्ण	मुक्तिकावती
१९. चेदि	शुक्ति
२०. सिंधु-सौवीर	वीतिभय
२१. शूरसेन	मथुरा
२२. भंयि	पापा
२३. वट्टा (?)	मासपुर (?)

२४. कुणाल	श्रावस्ती
२५. लाढ़	कोटिवर्ष
२५ १/२ केकयी अर्द्ध	श्वेतिका <sup>१</sup>

जात्यार्य : अंबष्ठ<sup>२</sup>, कलिंद, विदेह<sup>३</sup>।

जात्यार्य : अंबष्ठ<sup>२</sup>, कलिंद, विदेह, हरित, चुंचुण (या तुंतुण<sup>४</sup>)।

कुलार्य : उग्र<sup>५</sup>, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात, कौरव्य<sup>६</sup>।

कर्मार्य : दौष्यिक (कपड़े बचने वाले), सौत्रिक (सूत बेचने वाले), कार्पासिक (कपास बेचने वाले), सूत्रवैकालिक, भांडवैकालिक, कोलालिय (कुम्हार), नरवाहनिक (पालकी आदि उठाने वाले)।<sup>७</sup>

शिल्पार्य : तुत्राग (रफू करने वाले), तन्तुवाय (बुनने वाले), पट्टकार (पटवा), देयडा (दृतिकार, मशक बनाने वाले), वरुट्ट (पिंछी बनाने वाले), छण्विय (छावड़ी, चटाई आदि बुनने वाले), काष्ठ पादुकाकार (लकड़ी की पादुका बनाने वाले), मुंजपादुकाकार, छत्रकार, वज्झार (वाहन बनाने वाले), पोत्थकर (पूँछ के बालों से झाड़ू आदि बनाने वाले अथवा मिट्टी के पुतले बनाने वाले), लेप्पकार, चित्रकार, शंखकार, दंतकार, भांडकार, जिज्झगार(?) सेल्लगार (भाला बनाने वाले), कोडिगार (कौड़ियों की माला आदि बनाने वाले)<sup>११</sup>।

भाषार्य-अर्द्धमागधी भाषा बोलने वाले।

लिपि के प्रकार-ब्राह्मी, यवनानी, दोसपुरिया, खरोष्टी।

१. महावीर के काल में साकेत के पूर्व में अंग-मगध, दक्षिण में कौशाम्बी, पश्चिम में स्थूणा और उत्तर में कुणाला तक जैन श्रमणों को विहार करने की अनुमति थी। तत्पश्चात् राजा सम्प्रति ने अपने भट आदि भेजकर २४ देशों को जैन श्रमणों के विहार योग्य बनाया।

देखिए- बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३२६२।

२. ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न संतान को अख्तष्ठ कहा गया है, देखिए- मनुस्मृति तथा आचारांगनिर्युक्ति (२०-२७)।

३. वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न संतान को वैदेह कहा गया है, देखिए- मनुस्मृति तथा आचारांगनिर्युक्ति (२०-२७)।

४. उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य (३, १४) में इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ, ज्ञात, कुरू, बबुंनल (?), उग्र, भोग, राजन्य आदि की गणना जाति-

आर्य में की गई है। श्वपच, पाण, डोंब आदि को जैन ग्रंथों में जातिजुंगित कहा है।

५. क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न संतान को उग्र कहा गया है, देखिए - मनुस्मृति तथा आचारांग-निर्युक्ति।
६. तत्त्वार्थभाष्य (३.१४) में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि की गणना कुल-आर्य में की गई है।
७. अनुयोगद्वारसूत्र (पृ. १३६ अ) में तृणहारक, काष्ठहारक और पत्रहारक की भी गणना की गई है। तत्त्वार्थभाष्य (३.१४) में यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, कृषि लिपि, वाणिज्य, योनिपोषण से आजीविका चलाने वालों को कर्म-आर्य में गिना है। उत्तरकालवर्ती जैन ग्रंथों में मयूर-पोषक, नट, मछुए, धोबी आदि को कर्म-जुंगित कहा है।

- 
१. अनुयोगद्वारसूत्र में कुम्भकार, चित्तगार, णंतिक्र (कपड़ा सीने वाला) कम्मगार, कासव (नाई) की पांच मूल शिल्पकारों में गणना की गई है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पृ. १९३) में नव नारु में कुम्भार, पटेल, सुनार, सूफकार, गन्धर्व, नाई, माली, काछी, तंबोली तथा नव कारु में चमार, कोल्हू आदि चलाने वाला, गांछी, छीपी, कसारा, दर्जी, गुआर (ग्वाला), भील और धीवर की गणना की गई है। उत्तरकालवर्ती जैन ग्रंथों में चमार, धोबी और नाई आदि को शिल्प-जुंगित कहा है।
  २. जैन-परम्परा के अनुसार ऋषभदेव ने अपने दाहिने हाथ से यह लिपि अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिखाई थी, इसलिए इसका नाम ब्राह्मी पड़ा (आवश्यकचूर्णि, पृ. १४६)। भगवतीसूत्र (पृ. ७) में 'णमो बंधीए लिवीए' कहकर ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है। इससे मालूम होता है कि जैन आगम पहले इसी लिपि में लिखे, इस लिपि में ऋ, लृ, लृ और ळ को छोड़कर ४६ मूलाक्षर (माउयक्खर) बताए गए हैं (समवायांग, पृ. ५७अ)। ईसवी सन् के पूर्व ५००-३०० तक भारत की समस्त लिपियां ब्राह्मी के नाम से कही जाती थीं। (मुनि पुण्यविजय, भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला)।

३. यह लिपि ईसवी सन् के पूर्व ५वीं शताब्दी में अरमई लिपि में से निकली है (मुनि पुण्यविजय, वही, पृ.८)। ललितविस्तरा (पृ.१२५ आदि) में ६४ लिपियों का उल्लेख है, जिनमें ब्राह्मी बाएं और खरोष्ठी दाएं से बाएं लिखी जाती थी। खरोष्ठी लिपि लगभग ईसवी सन् के पूर्व ५०० में गंधार देश में प्रचलित थी। आगे चलकर इस लिपि का स्थान ब्राह्मी लिपि ने ले लिया। इसी लिपि में से आजकल के नागरी लिपि के पुक्खरसारिया, भोगवती, पहराइया, अंतक्खरिया (अंताक्षरी), अक्खरपुट्टिया, वैनयिकी, निह्नविकी, अंकलिपि, गान्धर्वलिपि, आदर्श लिपि, माहेश्वरी दोमिलिपि (द्रविडी), पौलिन्दी १।

ज्ञानार्थ- ये पांच प्रकार के हैं - आभिनिबोधिक, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

दर्शन-आर्य - सराग दर्शन, वीतराग दर्शन। सराग दर्शन-निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आंज्ञारुचि, सूत्ररुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि, धर्मरुचि, संक्षेपरुचि, धर्मरुचि। वीतराग दर्शन- उपशांतकषाय, क्षीणकषाय।

चारित्रार्थ-सराग चारित्र, वीतराग चारित्र। सराग चारित्र- सूक्ष्मरांपराय, बादरसंपराय। वीतराग चारित्र-उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, अथवा चारित्रार्थ पांच होते हैं - सामाजिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यातचारित्र (३७)।

ये देव चार प्रकार के होते हैं - भवनवासी, व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक। भवनवासी के भेद-असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, विशाकुमार, वायुकुमार, स्तनित कुमार, व्यंतर किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाचा ज्योतिषी-चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा।

वैमानिक- कल्पोपग, कल्पोपपत्र। कल्पोपग-सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतव, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत। कल्पातीत- ग्रैवेयक, अनुत्तरौपपातिक। ग्रैवेयक नौ होते हैं। अनुत्तरौपपातिक -ये पांच हैं- विजय, वैजयन्त, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि (३८)।

अक्षरों का विकास हुआ है। अशोक के लेख इसी लिपि में लिखे गए थे। देखिए- डॉ. गौरीशंकर ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. १७-३६.

१. समवायांग सूत्र (पृ. ३१ अ) में १८ लिपियों में उच्चतरिआ और भोगवइया लिपियों का उल्लेख है। विशेषावश्यकभाष्य की टीका (पृ. ४६४) में निम्नलिखित लिपियां गिनाई गई हैं- हंस, भूट, यक्षी, राक्षसी, उड्डी, यवनी, तरुक्की, कीरी, द्राविडी, सिंघवीय, मालवी, नटो, नागरी, लाट, पारसी, अनिमित्ती, चाणक्यो, मूलदेवी। और भी देखिए- लावण्य-समयगणि, विमलप्रबंध, लक्ष्मीवल्लभ- उपाध्याय, कल्पसूत्र-टीका। चाणक्यी, मूलदेवी, अंक, नागरी तथा शून्य, रेखा, औषधि, सहदेवी आदि लिपियों के लिए देखिए- मुनि पुण्यविजय, वहीं पृ. ६, अगरचंद नाहटा, जैन आगमों में उल्लिखित भारतीय लिपियां एवं 'इच्छा लिपि', नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७, अंक ४, २००९।

### काल की विभिन्न इकाइयां -

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में काल की निम्न इकाइयों का उल्लेख है-	
असंख्यात समय	= १ आवलि
संख्यात आवलि	= १ उच्छ्वास
संख्यात आवलि	= १ निःश्वास
१ उच्छ्वास निःश्वास	= १ प्राण
७ प्राण	= १ स्तोक
७ स्तोक	= १ लव
७७ लव	= १ मुहूर्त्त
इस प्रकार एक मुहूर्त्त में ७७X४९	= ३०७३ उच्छ्वास होते हैं।
३० मुहूर्त्त	= अहोरात्र
२५ अहोरात्र	= १ पक्ष
१ पक्ष	= १ मास
२ मास	= १ ऋतु
३ ऋतु	= २ अयन
२ अयन	= १ संवत्सर



५ संवत्सर	= १ युग
२० युग	= १ वर्षशत
१० वर्षशत	= १ वर्षसहस्र
१०० वर्षसहस्र	= १ वर्षशतसहस्र
८४ वर्षशतसहस्र	= १ पूर्वांग
८४ पूर्वांगशतसहस्र	= १ पूर्व
८४ पूर्वशतसहस्र	= १ त्रुटितांग
८४ त्रुटितांगशतसहस्र	= १ त्रुटित
८४ त्रुटितांगशतसहस्र	= १ अडडांग
८४ अडडांगशतसहस्र	= १ अडड
८४ अडडशतसहस्र	= १ अववांग
८४ अववशतसहस्र	= १ हूहुकांग
८४ हूहुकांगशतसहस्र	= १ डूडुक
८४ डूडुकशतसहस्र	= १ उत्पलांग
८४ उत्पलांगशतसहस्र	= १ उत्पल
८४ उत्पलशतसहस्र	= १ पद्यांग
८४ पद्यांगशतसहस्र	= १ पद्य
८४ पद्यशतसहस्र	= १ नलिनांग
८४ नलिनांगशतसहस्र	= १ नलिन
८४ नलिनशतसहस्र	= १ अस्तिनीपूरांग
८४ अस्तिनीपूरांगशतसहस्र	= १ अस्तिनीपूर
८४ अस्तिनीपूरशतसहस्र	= १ अयुतांग
८४ अयुतांगशतसहस्र	= १ अयुत
८४ अयुतशतसहस्र	= १ नयुतांग
८४ नयुतांगशतसहस्र	= १ नयुत
८४ नयुतशतसहस्र	= १ प्रयुतांग
८४ प्रयुतांगशतसहस्र	= १ प्रयुत
८४ प्रयुतशतसहस्र	= १ चूलिकांग
८४ चूलिकांगशतसहस्र	= १ चूलिका
८४ चूलिकाशतसहस्र	= १ शीर्षप्रहेलिकांग

इसी प्रकार हम देखते हैं कि उपांग साहित्य में जीवविज्ञान, पादपविज्ञान, खगोल, भूगोल, इतिहास, समाज, संस्कृति, शिल्प, कला आदि प्रायः सभी विषयों पर विपुल सामग्री उपलब्ध है। इसके बाद सागरोपम और पल्योपम का वर्णन किया गया है।

**रत्न के नाम -**

इसी प्रसंग में उसमें सोलह प्रकार के रत्न का उल्लेख है- रत्न, वस्त्र, वैदूर्य, लोहित, मसारगल्ल, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, ज्योतिरस, अंजन, अंजनपुलक, रजत, जातरूप, अंक, स्फटिक, अरिष्टा (६९)। प्रज्ञापना नामक उपांग में भी इनका उल्लेख है।

**अस्त्र-शस्त्रों के नाम-**

मुद्गर, मुसुंढि, करपत्र (करवत), असि, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, नाराच, कुंत, तोमर, शूल, लकुट, भिडिपाल (८९)।

**धातुओं के नाम-**

लोहा, ताम्बा, सीसा, रूप्य, सुवर्ण, हिरण्य, कुंभकार की अग्नि, ईंट पकाने की अग्नि, कवेलू पकाने की अग्नि, यंत्रपाटक चुल्ली (जहां गत्रे का रस पकाया जाता है) (८९)।

**मद्यों के नाम -**

चन्द्रप्रभा (चन्द्रमा के समान जिसका रंग हो), मणिशलाका, वरसीधु, वरवारूणी, फलनिर्याससार (फलों के रस से तैयार की हुई मदिरा), पत्रनिर्याससार, पुष्पनिर्याससार, चोयनिर्याससार, बहुत द्रव्यों को मिलाकर तैयार की हुई, संध्या के समय तैयार हो जाने वाली, मधु, मेरक, रिष्ठ नामक रत्न के समान वर्णवाली (इसे जम्बूफलकलिका भी कहा गया है), दुग्धजाति (पीने में दूध के समान मालूम होती हो), प्रसन्ना नेल्लक (अथवा तल्लक) शतायु (सौ बार शुद्ध करने पर भी जैसी की वैसी रहने वाली), खर्जूरसार, मुढीकासार (द्वाक्षसद), कापिशायन, सुपक्व, क्षोदरस (ईख के रस को पकाकर बनाई हुई)। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति एवं प्रज्ञापना में भी इनका उल्लेख है।

## पात्रों का नाम -

बारक (मंगल घट), घट, करक, कलश, कक्करी<sup>१</sup>, पादकाञ्चनिका (जिससे पांव धोए जाते हों), उदंक (जिससे जल का छिड़काव किया जाए), वद्धणी (वार्धनी-गलंतिका-छोटी कलसी, जिसमें से पानी रह-रहकर टपकता हो, सुपविट्टर) (पुष्प रखने का पात्र), पारी (दूध दोहने का बर्तन : हिन्दी में पाली), चषक (सुरा पीने का पात्र), भृंगार (झारी), करोडी (करोटिका), सरग (मदिरापात्र), धरग (?), पात्रीस्थल, णत्थग (नल्लक), चवलित (चपलित), अपददया जीवाभिगम के अतिरिक्त जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक उपांग में भी इनका उल्लेख है।

## आभूषणों के नाम -

हार (जिसमें अठारह लड़ियां हों), अर्धहार (जिसमें नौ लड़ियां हों) वट्टणग (पेष्टनक, कानों का आमरण), मुकुट, कुण्डल, वामुत्तग (व्यागक्तक, लटकने वाला गहना), हेमजला (छेद वाला सोने का आभूषण), मणिजाल, कनकजाल, सूत्रक (वैकक्षककृतं सुवर्णसूत्रं-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, पृ. १०५ - यज्ञोपवीत की तरह पहना जाने वाला आभूषण), उचियकडग (उचितकटिकानि- योग्यवलयानि, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति- टीका), खुडुग (एक प्रकार की अंगूठी), एकावली, कण्ठसूत्र, मगरिय (मकर के आकार का आभूषण)<sup>२</sup>, उरत्थ (वक्षस्थल पर पहनने का आभूषण), ग्रैवेयक (ग्रीवा का आभूषण), श्रोणिसूत्र (कटिसूत्र), चूडामणि, कनकतिलक, फुल्ल (फूल), सिद्धार्थक (सोने की कण्ठी), कण्णवालि (कानों की बाली), शशि, सूर्य, वृषभ, चक्र (चक्र), तलभंग (हाथ का आभूषण), तुडअ (बाहु का आभूषण), हत्थिमालय (हस्तमालक), वलक्ष (गले का आभूषण), दीनार-मालिका, चंद्र-सूर्यमालिका, हर्षक, केयूर, वलय, प्रालम्ब (झुमका), अंगुमालिका।

## राजप्रश्नीयसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन

राजप्रश्नीयसूत्र अर्द्धमागधी आगम साहित्य के उपांग वर्ग के अंतर्गत आता है। उपांगों में यह दूसरा उपांग है और इस अपेक्षा से इसे सूत्रकृतांगसूत्र का उपांग माना गया है। यद्यपि अंग आगमों से यह समीकरण युक्तिसंगत नहीं है, फिर भी सूत्रकृतांग में जिन विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा है, उनमें से पुनर्जन्म एवं परलोक को नकारने वाले नास्तिकों की समीक्षा इसमें भी है। इस सूत्र के नाम को लेकर विद्वानों में क्वचित् मतभेद भी देखा जाता है। नन्दीसूत्र में इसका नाम 'रायपसेणिय' दिया गया है। आचार्य मलयगिरि ने भी इसे 'रायपसेणीअ' नाम से उल्लेखित किया है। इन दोनों में विशेष अंतर नहीं है, अर्द्धमागधी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत की अपेक्षा से यह अंतर है। आचार्य मलयगिरि इसका संस्कृत रूपांतरण 'राजप्रश्नीयम्' करते हैं, किंतु उनके द्वारा किया गया यह संस्कृत रूपांतरण परव्रती है। उनके पूर्व तत्त्वार्थवृत्ति में सिद्धसेनगणि ने इसे 'राजप्रसेनकीय' के रूप में उल्लेखित किया है, जिसका अर्थ राजप्रसेन का संवाद- ऐसा हो सकता है। मुनिचंद्रसूरि ने तो इसका नाम राजप्रसेनजित् ही बताया है, जिससे यही सिद्ध होता है कि यह ग्रंथ राजा प्रसेनजित के संवाद से सम्बंधित है। इसके इन नामों में कौन-सा नाम सम्यक् है, यह एक विचारणीय प्रश्न है, क्योंकि इसमें अनेक विप्रतिपत्तियां हैं। मेरी दृष्टि में सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थवृत्ति का राजप्रसेनकीय अथवा मुनिचंद्र द्वारा उल्लेखित राजा प्रसेनजित नाम अधिक उचित प्रतीत नहीं होता है। ज्ञातव्य है कि 'रायपसेणिय' - इस प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप राजप्रसेणकीय या राजप्रसेनजित चाहे सम्भव भी हो, फिर भी यह अधिक समीचीन नहीं है, क्योंकि इसमें जिस राजा के साथ संवाद हुआ है, उसे अर्द्धमागधी आगम-साहित्य में 'पएसी' और पालित्रिपिटक में 'पयासी' कहा गया है। पएसी या पायासी को प्रसेनजित का संक्षिप्त रूप नहीं माना जा सकता है।

मैं राजप्रसेनजित नाम का पक्षधर हो सकता था, यदि दीघनिकाय के पयासीसुत्त में प्रसेनजित और कुमार श्रमण के मध्य संवाद होने का उल्लेख होता, किंतु सर्वत्र कुमार श्रमण और 'पएसी' या 'पयासी' के मध्य हुए संवाद का ही उल्लेख है, न कि कुमार श्रमण और प्रसेनजित के मध्य हुए किसी संवाद का।

दूसरे, प्राकृत 'पएसी' और पालि 'पायासी' नाम वस्तुतः प्रसेनजित का वाचक नहीं है, क्योंकि न तो प्राकृत के किसी भी नियम से प्रसेनजित का 'पएसी' रूप बनता है और न पालि में ही प्रसेनजित का 'पयासी' रूप बनता है। दूसरे, दोनों परम्पराओं में प्रसेनजित को कोमल का राजा कहा गया है और उसकी राजधानी श्रावस्ती बताई गई है, जबकि 'पएसी' या 'पायासी' को अर्ध केकय देश का राजा कहा गया है और उसकी राजधानी सेयंविया (श्वेताम्बिका) कही गई है, यद्यपि श्वेताम्बिका श्रावस्ती के समीप ही थी, अधिक दूर नहीं थी। दीघनिकाय के अनुसार 'पएसी' या 'पायासी' प्रसेनजित के अधीनस्थ एक राजा था, तभी उसे प्रसेनजित का भय बताकर यह कहा गया था कि जब प्रसेन यह सुनेगा कि 'पएसी' नास्तिकवादी है, तो क्या कहेगा ?

राजा प्रसेनजित एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व अवश्य हैं और उनका उल्लेख जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी पाया जाता है। बौद्ध त्रिपिटक साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ दीघनिकाय है। उसके द्वितीय विभाग में पायासीसुत्त उपलब्ध होता है, किंतु उसका सम्बंध भी प्रसेनजित के प्रश्नोत्तर से नहीं है, अपितु 'पयासी' से हुए प्रश्नोत्तर से है। उसमें भी पुनर्जन्म, परलोक की सिद्धि के लिए प्रायः वे ही तर्क दिए गए हैं, जो हमें राजप्रश्नीयसूत्र में मिलते हैं, अतः इसका संस्कृत 'राजप्रश्नीयसूत्रः' नाम ही समुचित माना जा सकता है, क्योंकि इसमें राजा के प्रश्नों का समाधान किया गया है।

### राजप्रश्नीयसूत्र का रचनाकाल

राजप्रश्नीयसूत्र के नामकरण के पश्चात् यदि हम इसके काल के सम्बंध में विचार करें, तो राजप्रश्नीयसूत्र का सबसे प्रथम उल्लेख हमें 'नंदीसूत्र' में कालिकसूत्रों की जो सूची दी गई है, उसमें उपलब्ध होता है। नंदीसूत्र का रचनाकाल ईसा की पांचवीं शताब्दी प्रायः सुनिश्चित है, किंतु इसे राजप्रश्नीयसूत्र के वर्तमान संस्करण की उत्तर-तिथि ही माना जा सकता है। राजप्रश्नीयसूत्र का अंतिम भाग, जो केशीकुमार श्रमण और पएसी के संवादरूप है, का अस्तित्व उसके पूर्व भी होना चाहिए, क्योंकि राजप्रश्नीयसूत्र के इस अंतिम भाग की समरूपता बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के दीघनिकाय के पयासीसुत्त से है और पायासीसुत्त ईस्वी पूर्व की रचना है। 'पएसी' या 'पायासी' का यह कथानक ई.पू.छठवीं शती का होगा, जिसे दोनों परम्पराओं ने अपने अनुसार

थोड़ा-बहुत परिवर्तित करके अपने ग्रंथों का अंग बना दिया है, क्योंकि पायासीसुत्त और राजप्रश्नीयसूत्र का वह अंतिम भाग, जो जीव के पुनर्जन्म, परलोक आदि को सिद्ध करता है, पर्याप्त रूप में समानता रखता है, जो इस बात का प्रमाण है कि राजप्रश्नीयसूत्र का यह अंतिम विभाग निश्चित ही ईस्वी पूर्व की रचना है, किंतु दूसरी ओर, राजप्रश्नीयसूत्र में विमान, प्रेक्षागृह, जिनमंदिर से सम्बंधित जिन वास्तुकलाओं का चित्रण है तथा उनमें जिनपूजा-विधि के जो उल्लेख हैं, वे इसे मौर्यकाल से परवर्ती तथा पूर्व गुप्तकाल का सिद्ध करते हैं। इसके साथ ही राजप्रश्नीयसूत्र में गायन, वादन और नृत्यकला के जो विकसित निर्देश उपलब्ध होते हैं, वे भी इस बात के प्रमाण हैं कि राजप्रश्नीयसूत्र के अग्रिम भाग का रचनाकाल ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शती के पूर्व का नहीं हो सकता है। एक ओर उसमें चिकने पालिश वाली जिस शिला का उल्लेख है, वह मौर्यकालीन पालिश का स्मरण कराती है, तो दूसरी ओर सूर्याभदेव के द्वारा जिनपूजा के पूर्व पुस्तक रत्न के खोलने और पढ़ने के जो निर्देश हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि राजप्रश्नीयसूत्र के पूर्वभाग की रचना के समय जैन परम्परा में लिखित पुस्तकों का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। पुनः, जैसा मैंने पूर्व में कहा है कि इसमें विमान और प्रेक्षागृह की जिस वास्तुकला का तथा नृत्य, संगीत और वाद्ययंत्रों का निर्देश मिलता है, वह पूर्वगुप्तकाल से पहले का नहीं हो सकता है। इस प्रकार, राजप्रश्नीयसूत्र के लेखन काल का निर्धारण इसे दो भागों में बांटकर ही किया जा सकता है। इसका उक्त भाग, जो 'पएसी' के प्रश्नोत्तर से सम्बंधित है, मौर्यकालीन है और पूर्वभाग, जो सूर्याभदेव के कथानक से सम्बंधित है, वह ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी का होना चाहिए, फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि यह ग्रंथ अपने वर्तमान स्वरूप में वलभी वाचना के पूर्व अस्तित्व में आ गया था।

### राजप्रश्नीयसूत्र की विषय-वस्तु

जहां तक राजप्रश्नीयसूत्र की विषय-वस्तु का प्रश्न है, इसे मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम भाग में सूर्याभदेव का प्रसंग है और दूसरे भाग में चित्त-सारथी की प्रेरणा से केशीकुमार श्रमण और राजा पएसी के मध्य हुए संवाद का उल्लेख है। पुनः इसके पूर्व भाग में वास्तुकला, संगीत, नाटक, वाद्ययंत्र आदि के जो विवरण उपलब्ध होते हैं, वे निश्चित ही इसके सांस्कृतिक महत्त्व को स्पष्ट करते हैं।

प्रस्तुत आलेख में हम इन तीनों ही पक्षों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

राजप्रश्नीयसूत्र में सर्वप्रथम आमलकल्या नगरी, उसके चैत्य, वहां के राजा 'सेय' एवं रानी 'धारिणी' का वर्णन है, फिर आमलकल्या नगरी में भगवान् महावीर के पदार्पण और राजा के उनके दर्शनार्थ जाने का उल्लेख है। प्रस्तुत नगर आदि का वर्णन यहां इसलिए किया गया है कि सूर्याभदेव ने इसी नगर में आकर भगवान् महावीर की वंदना की थी और गौतम आदि के समक्ष भगवान् के जीवनवृत्त सम्बंधी नाट्य का मंचन किया था।

तदनन्तर, इस उपांग में सूर्याभदेव की महत् ऋद्धि का वर्णन किया गया है, फिर देवों द्वारा आमलकल्या नगर को स्वच्छ करने आदि के उल्लेख हैं। इसके पश्चात् सूर्याभदेव के आदेश पर सुंदर और विशालकाय विमान-निर्माण सम्बंधी विवरण है। इसी क्रम में सूर्याभदेव द्वारा प्रस्तुत नाट्य संगीत आदि का विवरण है। इसके पश्चात् गौतम आदि की जिज्ञासा पर सूर्याभदेव की ऋद्धि और दिनचर्या का वर्णन है, जिसमें उनके अभिषेक आदि क्रियाओं का और सुधर्मा सभा, सिद्धायतन, सूर्याभदेव द्वारा सिद्धायतन में जिन-प्रतिमाओं आदि के अर्चन, पूजन, स्तुति आदि करने का भी निर्देश है। इसके पश्चात् सूर्याभदेव के पूर्व भव में 'पएसी' राजा होने और उनकी केशीकुमार श्रमण से पुनर्जन्म, परलोक आदि सम्बंधों में जो विस्तृत चर्चा हुई है; उसका वर्णन है। तत्पश्चात्, पएसी राजा द्वारा श्रावक धर्म के ग्रहण, रानी सूर्यकांता द्वारा उन्हें विष देने, उनके द्वारा समाधिमरण स्वीकार कर मरणोपरांत सूर्याभदेव के रूप में उत्पन्न होने की कथा है। अंत में, सूर्याभदेव द्वारा देवायु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होने तथा संयम ग्रहण कर मुक्त होने का निर्देश है।

राजप्रश्नीयसूत्र में वर्णित वादन, गायन और नृत्य कला

(अ) वाद्ययंत्र

राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव द्वारा जिस नाटक का मंचन किया गया था, उसमें अनेक वाद्ययंत्रों का प्रयोग हुआ था। उन वाद्ययंत्रों का निर्देश निम्न रूप में है-

शंख, श्रृंग, श्रृंगिका, खरमुही (काहाला), पेया (महतीकाला), पिरिपिरिका (कोलिक मुखावनद्ध मुखवाद्य), पणव (लघुपटह), पटह, भंभा

(ढक्का), होरंभा (महाढक्का), भेरी (ढक्काकृति वाद्य), झल्लरी (चर्मविनद्धा विस्तीर्णवलयाकारा), दुन्दुभि (भेर्याकारा संकटमुखी देवातोद्य), मुरज (महाप्रमाण मंदल), मृदंग (लघु मर्दल), नंदीमृदंग (एकतः कंकरीणः अन्यत्र विस्तृतो मुरजविशेषः), आलिंग (मुरज वाद्यविशेष), कुस्तुंब (चर्मावनद्धपुटो वाद्यविशेषः), गोमुखी, मर्दल (उभयतः सम), वीणा, विपंजी (त्रितंत्री वीणा), वल्लकी (सामान्यतो वीणा), महती, कच्छभी (भारती वीणा), चित्रवीणा, बद्धीस, सुघोषा, नंदिघोषा, भ्रामरी, षड्भ्रामरी, वरवादनी (सप्ततंत्री वीणा), तूणा, तुम्बवीणा (तुंबयुक्त वीणा), आमोट, झंझा, नकुल, मुकुन्द (मुरज वाद्यविशेष), हुडुक्का, विचिक्की, करटा, डिंडिम, किणित, कडंब, दर्दर, दर्दरिका (यस्य चतुर्भिश्चरणैखस्थानं भुवि स गोधाचर्मावनद्धो, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०१), कलशिका, महुया, तल, ताल, कांस्यताल, रिगिसिका (रिगिसिगिका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), लत्तिया, मगरिका, शिशुमारिका, वंश, वेणु, वाली (तूणाविशेषः, स हि मुखे दत्वा वाद्यते), परिलि और बद्धक (पिरलीबद्धकौ तूणरूप वाद्यविशेषौ)।

### सूर्याभदेव द्वारा प्रस्तुत अभिनय का स्वरूप

सूर्याभदेव ने हर्षित चित्त से महावीर को वंदन कर निवेदन किया कि हे भदन्त! मैं आपकी भक्तिवश गौतम आदि निर्ग्रन्थों के सम्मुख इस दिव्य देवक्रद्धि, दिव्य देवद्युति एवं दिव्य देवप्रभाव तथा बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि को प्रस्तुत करना चाहता हूँ। सूर्याभदेव के इस निवेदन पर भगवान् महावीर ने उनके कथन का न आदर ही किया और न उसकी अनुमोदना ही की, अपितु मौन रहे, तब सूर्याभदेव ने भगवान् महावीर से दो-तीन बार पुनः इसी प्रकार निवेदन किया और ऐसा कहकर उसने भगवान् महावीर की प्रदक्षिणा की, उन्हें वंदन-नमस्कार कर उत्तर-पूर्व दिशा में गया। वैक्रियसमुद्घात करके बहुस्मरणीय भूमिभाग की रचना की, जो समतल था एवं मणियों से सुशोभित था। उस सम तथा रमणीय भूमि के मध्यभाग में एक प्रेक्षागृह (नाट्यशाला) की रचना की, जो सैकड़ों स्तम्भों पर सन्निविष्ट था। उस प्रेक्षागृह के अंदर रमणीय भूभाग, चंदोवा, रंगमंच तथा मणिपीठिका की रचना की और फिर उसने उस मणिपीठिका के ऊपर पादपीठ, छत्र आदि से युक्त सिंहासन की रचना की, जिसका ऊर्ध्व भाग



मुक्तादामों से सुशोभित हो रहा था। तब सूर्याभदेव ने भगवान् महावीर को प्रणाम किया और कहा हे भगवन् ! मुझे आज्ञा दीजिए। ऐसा कहकर तीर्थंकर की ओर मुख कर उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया। नाट्यविधि प्रारम्भ करने के लिए उसने श्रेष्ठ आभूषणों से युक्त अपनी दाहिनी भुजा को लम्बवत फैलाया, जिससे एक सौ आठ देवकुमार निकले। वे देवकुमार युवोचित गुणों से युक्त, नृत्य के लिए तत्पर तथा स्वर्णिम वस्त्रों से सुसज्जित थे। तदनन्तर सूर्याभदेव ने विभिन्न आभूषणों से युक्त बाईं भुजा को लम्बवत् फैलाया। उस भुजा से एक सौ आठ देवकुमारियां निकलीं, जो अत्यंत रूपवती, स्वर्णिम वस्त्रों से सुसज्जित तथा नृत्य के लिए तत्पर थीं। तत्पश्चात् सूर्याभदेव ने एक सौ आठ शंखों और एक सौ आठ शंखवादकों की, एक सौ आठ श्रृंगों-रणसिंगों और उनके एक सौ आठ वादकों की, एक सौ आठ शंखिकाओं और उनके एक सौ आठ वादकों आदि उनसठ वाद्यों और उनके वादकों की विकुर्वणा की। इसके बाद सूर्याभदेव ने उन देवकुमारों और देवकुमारियों को बुलाया। वे हर्षित हो उनके पास आए और वंदन कर विनयपूर्वक निवेदन किया- हे देवानुप्रिय ! हमें जो करना है, उसकी आज्ञा दीजिए, तब सूर्याभदेव ने उनसे कहा- हे देवानुप्रियो! तुम सब भगवान् महावीर के पास जाओ, उनकी प्रदक्षिणा करो, उन्हें वंदन-नमस्कार करो और फिर गौतमादि निर्ग्रन्थों के समक्ष बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधि प्रदर्शित करो तथा नाट्यविधि प्रदर्शन कर शीघ्र ही मेरी आज्ञा मुझे वापस करो। तदनन्तर सभी देवकुमार एवं देवकुमारियों ने सूर्याभदेव की आज्ञा को स्वीकार किया और भगवान् महावीर के पास गए। भगवान् महावीर को प्रणाम कर गौतमादि निर्ग्रन्थों के पास आए। वे सभी देवकुमार और देवकुमारियां पंक्तिबद्ध हो एक साथ मिले, मिलकर सभी एक साथ झुके, फिर एक साथ ही अपने मस्तक को ऊपर कर सीधे खड़े हो गए। इसी क्रम में तीन बार झुककर सीधे खड़े हुए और फिर एक साथ अलग-अलग फैल गए। यथायोग्य उपकरणों, वाद्यों को लेकर एक साथ बजाने लगे, गाने लगे और नृत्य करने लगे। उन्होंने गाने को पहले मंद स्वर से, फिर अपेक्षाकृत उच्च स्वर से और फिर उच्चतर स्वर से गाया। इस तरह उनका यह त्रिस्थान गान त्रिसमय रेचक से रचित था, गुंजारव से युक्त था, रागयुक्त था, त्रिस्थानकरण से शुद्ध था, गूंजती वंशी और वीणा के सस्वरों से मिला हुआ था, करतल, ताल, लय आदि से मिला हुआ था, मधुर था, सरस था, सलिल तथा मनोहर था,

मृदुल पादसंचारों से युक्त था, सुनने वालों के प्रीतिदायक था, शोभन समाप्ति से युक्त था। इस मधुर संगीत गान के साथ-साथ वादक अपने-अपने वाद्यों को भी बजा रहे थे। इस प्रकार वह दिव्य वादन और दिव्य नृत्य आश्चर्यकारी होने से अद्भुत तथा दर्शकों के मनोनुकूल होने से मनोज्ञ था। दर्शकों के कहकहों से नाट्यशाला को गुंजायमान कर रहा था।

तत्पश्चात् नृत्य-क्रीड़ा में प्रवृत्त उन देवकुमारों और देवकुमारियों ने भगवान् महावीर एवं गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों आदि के समक्ष स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण- इन आठ मंगलद्रव्यों का आकार-रूप दिव्य नाट्याभिनय दिखलाया। तत्पश्चात् दूसरी नाट्यविधि प्रस्तुत करने के लिए वे एकत्रित हुए एवं उन्होंने भगवान् महावीर एवं गौतम आदि निर्ग्रन्थों के समक्ष आवर्त्त, प्रत्यावर्त्त, श्रेणि, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्य, माणवक, वर्द्धमानक, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, जार, मार, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरंग, वासन्तीलता और पद्मलता के आकार की नाट्यविधि दिखलाई। उसके पश्चात् उन सभी ने भगवान् महावीर के समक्ष ईहामृग, वृषभ, तुरंग-अश्व, नर-मानव, मगर, विहग-पक्षी, व्याल-सर्प, किन्नर, रुरु, सरभ, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृति रचना रूप दिव्य नाट्यविधि को प्रस्तुत किया। तदनन्तर उन्होंने एकतोवक्र, एकतश्चक्रवाल, द्विघातश्चक्रवाल- ऐसी चक्रार्ध-चक्रवाल नामक दिव्य नाट्यविधि प्रस्तुत की। इसी क्रम से उन्होंने चंद्रावलि, सूर्यावलि, वलयावलि, हंसावलि, एकावलि, तारावलि, मुक्तावलि, कनकावलि, रत्नावलि की विशिष्ट रचनाओं से युक्त दिव्य नाट्यविधि का अभिनय किया। तत्पश्चात् उन्होंने चंद्रमा और सूर्य के उदय होने की रचनावली उद्गमनोद्गमन नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। उसके पश्चात् आगमन नाट्यविधि अभिनीत की। तदनन्तर चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण होने पर गगनमण्डल में होने वाले वातावरण की दर्शक आवरणावरण नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके बाद अस्तमयनप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया। उसके पश्चात् चंद्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, महोरगमण्डल और गंधर्वमण्डल की रचना से युक्त दर्शनमण्डलप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि प्रस्तुत की। इसके पश्चात् वृषभमण्डल, सिंहमण्डल की ललित गति, अश्व गति और

गज की विलम्बित गति, अश्व और हस्ती की विलसित गति, मत्त अश्व और मत्त गज की विलसित गति आदि गति की दर्शक रचना से युक्त द्रुतविलम्बितप्रविभक्ति नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके बाद सागर, नगर प्रविभक्ति नामक अपूर्व नाट्यविधि अभिनीत की। तत्पश्चात् नंदा, चम्पा प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके पश्चात् मत्स्याण्ड, माकराण्ड, जार, मार प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया। तदनन्तर उन्होंने 'क' अक्षर की आकृति की रचना करके ककार प्रविभक्ति, इसी प्रकार ककार से लेकर पकार पर्यन्त पांच वर्गों के २५ अक्षरों के आकार का अभिनय-प्रदर्शन किया। तत्पश्चात् पल्लव प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि प्रस्तुत की और इसके बाद उन्होंने नागलता, अशोकलता, चम्पकलता, आम्रलता, वनलता, वासन्तीलता, अतिमुक्तकलता, श्यामलता की सुरचना वाली लता प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके पश्चात् अनुक्रम से द्रुत, विलम्बित, द्रुतविलम्बित, अंचित, रिभित, अंचितरिभित, आरभद, भसोल और आरभटभसोल नामक नाट्यविधियों का प्रदर्शन किया। इन प्रदर्शनों के पश्चात् वे सभी एक स्थान पर एकत्रित हुए तथा भगवान् महावीर के पूर्व भवों से सम्बंधित चरित्र स निबद्ध एवं वर्तमान जीवन सम्बंधी च्यवनचरित्रनिबद्ध, गर्भसंहरणचरित्रनिबद्ध, जन्मचरित्रनिबद्ध, जन्माभिषेक, बालक्रीडानिबद्ध, यौवन-चरित्रनिबद्ध, अभिनिष्क्रमण-चरित्रनिबद्ध, तपश्चरण-चरित्रनिबद्ध, ज्ञानोत्पाद-चरित्रनिबद्ध, तीर्थ-प्रवर्त्तन चरित्र से सम्बंधित, परिनिर्वाण चरित्रनिबद्ध तथा चरम-चरित्रनिबद्ध नामक अंतिम दिव्य नाट्य अभिनय का प्रदर्शन किया।'

धार्मिक नाटकों के मंचन और जिनप्रतिमा के समक्ष नृत्य करने की परम्परा आज भी जैनधर्म में जीवित पाई जाती है। विगत शताब्दी में श्रीपाल मैनासुंदरी नाटक के मंचन के लिए एक पूरा समुदाय ही था, जो स्थान-स्थान पर जाकर इसे एवं अन्य भक्तिप्रधान नाटकों को मंचित करता था और उसी के सहारे अपनी जीवनवृत्ति चलाता था। आज भी जैनों के धार्मिक समारोहों के अवसर पर जैन-परम्परा के कथानकों से सम्बद्ध नाटकों का मंचन किया जाता है, अतः संगीत, नृत्य एवं नाटक जीवित परम्परा के रूप में आज भी जैन विधि-विधानों के साथ जुड़े हुए हैं। यह स्पष्ट है कि जैन साधना में नृत्य, संगीत आदि जिन

कलापरक पक्षों का समाहार हुआ है, उस पर भक्तिमार्गी परम्परा का प्रभाव है। निवृत्तिमार्गी परम्परा होने के कारण प्रारम्भ में तो इनका वर्जन ही किया था, किंतु कालांतर में भक्तिमार्ग ने जैनधर्म को प्रभावित किया और ये तत्त्व उसमें प्रविष्ट हो गए। यद्यपि इस माध्यम से जैनाचार्यों ने मनुष्य के वासनात्मक पक्ष का उदात्तीकरण किया है, ताकि व्यक्ति को एक सम्यक् दिशा दी जा सके।

राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव द्वारा की गई जिनपूजा का वर्णन प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है- 'सूर्याभदेव ने व्यवसाय सभा में रखे हुए पुस्तकरत्न को अपने हाथ में लिया, हाथ में लेकर उसे खोला, खोलकर उसे पढ़ा और पढ़कर धार्मिक क्रिया करने का निश्चय किया, निश्चय करके पुस्तकरत्न को वापस रखा, रखकर सिंहासन से उठा और नंदा नामक पुष्करिणी पर आया। नंदा पुष्करिणी में प्रविष्ट होकर उन्होंने अपने हाथ-पैरों का प्रक्षालन किया तथा आचमन कर पूर्ण रूप से स्वच्छ और शुचिभूत होकर स्वच्छ श्वेत जल से भरी हुई भृंगार (झारी) तथा उस पुष्करिणी में उत्पन्न शतपत्र एवं सहस्रपत्र कमलों को ग्रहण किया, फिर वहां से चलकर जहां सिद्धायतन (जिनमंदिर) था, वहां आए। उसमें पूर्वद्वार से प्रवेश करके जहां देवछन्दक और जिनप्रतिमा थी वहां आकर जिनप्रतिमाओं को प्रणाम किया। प्रणाम करके लोममयी प्रमार्जनी हाथ में ली, प्रमार्जनी से जिनप्रतिमा को प्रमार्जित किया। प्रमार्जित करके सुगंधित जल से उन जिनप्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके उन पर गोशीर्ष चंदन का लेप किया। गोशीर्ष चंदन का लेप करने के पश्चात् उन्हें सुवासित वस्त्रों से पोंछा, पोंछकर जिनप्रतिमाओं को अखण्ड देवदूष्य युगल पहनाया। देवदूष्य पहनाकर पुष्पमाला, गंधचूर्ण एवं आभूषण चढ़ाए। तदनन्तर नीचे लटकती लम्बी-लम्बी गोल मालाएं पहनाई। मालाएं पहनाकर पंचवर्ण के पुष्पों की वर्षा की, फिर जिनप्रतिमाओं के समक्ष विभिन्न चित्रांकन किए एवं श्वेत तन्दुलों से अष्टमंगल का आलेखन किया। उसके पश्चात् जिनप्रतिमाओं के समक्ष धूपक्षेप किया। धूपक्षेप करने के पश्चात् विशुद्ध, अपूर्व, अर्थसम्पन्न महिमाशाली १०८ छन्दों से भगवान् की स्तुति की। स्तुति करके सात-आठ पैर पीछे हटा। पीछे हटकर बांया घुटना ऊंचा किया तथा दायां घुटना जमीन पर झुकाकर तीन बार मस्तक पृथ्वी तल पर नमाया। फिर मस्तक ऊंचा कर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करके 'नमोत्थुणं अरहंताणं... ठाणं संपत्ताणं' नामक शक्रस्तव का

पाठ किया। इस प्रकार, अर्हन्त और सिद्ध भगवान् की स्तुति करके फिर जिनमंदिर के मध्य भाग में आंए। उसे प्रमार्जित कर दिव्य जलधारा से सिंचित किया और गोशीर्ष चंद्रन का लेप किया तथा पुष्पसमूहों की वर्षा की। तत्पश्चात् उसी प्रकार उन्होंने मयूरपिच्छि से द्वारशाखाओं, पुतलियों एवं व्यालों को प्रमार्जित किया तथा उनका प्रक्षालन कर उनको चंदन से अर्चित किया तथा धूपक्षेप करके पुष्प एवं आभूषण चढ़ाए। इसी प्रकार, उन्होंने मणिपीठिकाओं एवं उनकी जिनप्रतिमाओं की, चैत्यवृक्ष की तथा महेंद्र ध्वजा की पूजा-अर्चना की। इससे स्पष्ट है कि राजप्रश्नीय के काल में पूजा सम्बंधी मंत्रों के अतिरिक्त जिनपूजा की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया निर्मित हो चुकी थी। लगभग ऐसा ही विवरण वरांगचरित के २३वें सर्ग में भी है।

यह स्पष्ट है कि जिनपूजा का यह विकसित स्वरूप गुप्तकालीन है और भक्तिमार्ग के विकास के साथ जैनधर्म में प्रविष्ट हुआ है। इस पर हिन्दूधर्म की पूजा-पद्धति का पूर्ण प्रभाव है, जिसकी चर्चा मैंने अपनी पुस्तक 'जैनधर्म और तांत्रिक साधना' में की है। हम यह भी बता चुके हैं कि राजप्रश्नीयसूत्र का यह भाग परवर्ती प्रक्षेप है। मूल भाग केवल राजा पएसी और केशीकुमार श्रमण की चर्चा तक ही सीमित था।

### पुनर्जन्म एवं परलोक के निषेध की राजप्रश्नीयसूत्र में समीक्षा

जैन आगमों में पुनर्जन्म एवं परलोक के निषेधक देहात्मवादी दृष्टिकोण के पक्ष और विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करने वाला सर्वप्रथम राजप्रश्नीयसूत्र है। यही एकमात्र ऐसा प्राकृत आगम ग्रंथ है, जो उच्छेदवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष- दोनों के संदर्भ में अपने तर्क प्रस्तुत करता है। राजप्रश्नीय में देहात्मवाद के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है-

राजा पएसी कहता है- हे केशीकुमार श्रमण ! मेरे दादा अत्यंत अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह को अत्यंत प्रिय था, अतः मेरे पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र ! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी सेयंविद्या (श्वेताम्बिका) नगरी में अधार्मिक कृत्य करता था, यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप

में उनका पालन-रक्षण नहीं करता था। इस कारण बहुत एवं अतीव क्लुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ, किंतु हे पौत्र ! तुम अधार्मिक मत होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन-रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मों का उपार्जन-संचय ही करना।

देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रतिउत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न समाधान प्रस्तुत किया- हे राजन् ! जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को इसलिए नहीं छोड़ देते हो कि वह जाकर अपने पुत्र-मित्र और ज्ञाति-जनों को यह बताए कि मैं अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना। इसी प्रकार, नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए आना चाहकर भी यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। नारकीय जीव निम्न चार कारणों से मनुष्यलोक में नहीं आ सकते। सर्वप्रथम तो उनमें नरक से निकलकर मनुष्यलोक में आने की सामर्थ्य ही नहीं होती। दूसरे, नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति भी नहीं देते। तीसरे, नरक सम्बंधी असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने से वे वहाँ से नहीं निकल पाते। चौथे, उनका नरक सम्बंधी आयुष्यकर्म जब तक क्षीण नहीं होता, तब तक वे वहाँ से नहीं आ सकते। अतः, तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर एक ही हैं, अपितु यह मान्यता रखो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है। स्मरण रहे कि दीघनिकाय में भी नरक से मनुष्यलोक में न आ पाने के इन्हीं चार कारणों का उल्लेख किया गया है। केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क किया।

हे श्रमण ! मेरी दादी अत्यंत धार्मिक थीं। आप लोगों के मत के अनुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होगी। मैं अपनी दादी का अत्यंत प्रिय था, अतः उसे मुझे आकर यह बताना चाहिए कि हे पौत्र ! अपने पुण्य कर्मों के कारण मैं स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बिताओ, जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न होओ। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया, अतः मैं यही मानता हूँ कि जीवन और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया- हे राजन् ! यदि तुम स्नान, बलिकर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में

प्रविष्ट हो रहे हो, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि हे स्वामिन् ! यहां आओ ! कुछ समय के लिए यहां बैठो, खड़े होओ, तो क्या तुम उस पुरुष की बात को स्वीकार करोगे। निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे। इसी प्रकार, हे राजन् ! देवलोक में उत्पन्न देव वहां के दिव्य कामभागों में इतने मूर्च्छित, गृधु और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्यलोक में आने की इच्छा नहीं करते। दूसरे, देवलोक सम्बन्धी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है, अतः वे मनुष्यलोक में नहीं आ पाते। तीसरे, देवलोक में देव वहां के दिव्य कामभागों में मूर्च्छित या तल्लीन होने के कारण, अभी जाता हूं, अभी जाता हूं- ऐसा सोचते रहते हैं, किंतु उतने समय में अल्पायुष्य वाले मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं। (क्योंकि देवों का एक दिन-रात मनुष्यलोक के सौ वर्ष के बराबर होता है, अतः एक दिन का भी विलम्ब होने पर वहां मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाता है।) पुनः, मनुष्यलोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण देव मनुष्यलोक में आना नहीं चाहते हैं। अतः, तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही लोहे की कुम्भी में बंद करवाकर अच्छी तरह से लोहे से उसका मुख ढंक दिया, फिर उस पर गरम लोहे और रांगे से लेप करा दिया तथा उसकी देख-रेख के लिए अपने विश्वासपात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने उस कुम्भी को खुलवाया, तो देखा कि वह मनुष्य मर चुका था, किंतु उस कुम्भी में कोई भी छिद्र, विवर या दरार नहीं थी, जिससे उसमें बंद पुरुष का जीव बाहर निकला हो, अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया-

जिस प्रकार एक ऐसी कुटागारशाला, जो अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका द्वार गुप्त हो, यहां तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके, यदि उस कुटागारशाला में कोई व्यक्ति जोर से भेरी बजाए, तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनाई देगी कि नहीं? निश्चय ही वह आवाज सुनाई देगी। अतः, जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गतिवाला है, उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत

गतिवाला है, अतः तुम यहां श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। (ज्ञातव्य है कि अब यह तर्क विज्ञानसम्मत नहीं रह गया है, यद्यपि आत्मा की अमूर्तता के आधार पर भी राजा के उपर्युक्त तर्क का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है।) केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया-

मैंने एक पुरुष को प्राणरहित करके एक लौहकुम्भी में सुलवा दिया तथा ढक्कन से उसे बंद करके उस पर रांगे का लेप करवा दिया, कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया, तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा, किंतु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था, जिससे उसमें जीव प्रवेश करके उत्पन्न हुए हों। अतः, जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने अग्नि से तपाए लोहे के गोले का उदाहरण दिया। जिस प्रकार लोहे में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गतिवाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

केशीकुमार श्रमण का यह प्रत्युत्तर सुनकर राजा ने पुनः नया तर्क प्रस्तुत किया। उसने कहा कि मैंने एक व्यक्ति को जीवित रहते हुए और मरने के बाद-दोनों ही दशाओं में तौला, किंतु दोनों के तौल में कोई अंतर नहीं था। यदि मृत्यु के बाद आत्मा उसमें से निकली होती, तो उसका वजन कुछ कम अवश्य होना चाहिए था। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने वायु से भरी हुई और वायु से रहित मशख के तौल होने का उदाहरण दिया और यह बताया कि जिस प्रकार वायु अगुरुलघु है, उसी प्रकार जीव भी अगुरुलघु है, अतः तुम्हारा यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं। (अब यह तर्क भी वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं रह गया है, क्योंकि वैज्ञानिक यह मानते हैं कि वायु में वजन होता है। दूसरे, यह भी प्रयोग करके देखा गया है कि जीवित और मृत शरीर के वजन में अंतर पाया जाता है। उस युग में सूक्ष्म तुला के अभाव के कारण यह अंतर ज्ञात नहीं होता रहा होगा।)

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों को काटकर, चीरकर देखा, लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया, अतः शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने उसे निम्न उदाहरण देकर समझाया-



‘हे राजन् ! तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है। मैं तुझे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। एक बार कुछ वनजीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुंचे। उन्होंने अपने एक साथी से कहा- हे देवानुप्रिय! हम जंगल में लकड़ी लेने जाते हैं, तू इस अग्नि से आग जलाकर हमारे लिए भोजन बनाकर तैयार रखना। यदि अग्नि बुझ जाए, तो लकड़ियों को घिसकर अग्नि जला लेना। उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गई। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारों ओर से उलट-पलटकर देखने लगा, लेकिन आग कहीं नजर नहीं आई। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा, उनके छोटे-छोटे टुकड़े किए, किंतु फिर भी आग दिखाई नहीं दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखो, मैं अभी तक भी भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में जंगल में से उसके साथी लौटकर आ गए, उसने उन लोगों से सारी बातें कहीं। इस पर उनमें से एक साथी ने शर बनाया और शर को अरणि के साथ घिसकर अग्नि जलाकर दिखाई और फिर सबने भोजन बनाकर खाया। हे पएसी! जैसे लकड़ी को चीरकर आग पाने की इच्छा रखने वाला उक्त मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीरकर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, किंतु शरीर को चीरकर उसे देखने की प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है, जैसे अरणि को चीर फाड़कर अग्नि को देखने की प्रक्रिया। अतः, हे राजन्! यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।

यहां यह कहा जा सकता है कि ये सभी तर्क वैज्ञानिक युग में इतने सबल नहीं रह गए हैं, किंतु ई.पू. सामान्यतया चार्वाकों के पक्ष के समर्थन में और उनका खण्डन करने के लिए ये ही तर्क प्रस्तुत किए जाते थे, अतः चार्वाक-दर्शन के ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से इनका अपना महत्त्व है। जैन और बौद्ध-परम्परा में इनमें से अधिकांश तर्क समान होने से इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वतःसिद्ध है।

जैन साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से जहां तक चार्वाक दर्शन के तर्क पुरस्सर प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षा का प्रश्न है- सर्वप्रथम उसे आगमिक व्याख्या साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ विशेषावश्यकभाष्य (ईस्वी सन् की छठवीं शती) में देखा

जा सकता है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा ईस्वी सन् की छठवीं शती में प्राकृत भाषा में निबद्ध इस ग्रंथ की लगभग ५०० गाथाएं तो आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बंधन-मुक्ति आदि अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा से सम्बंधित हैं। इस ग्रंथ का यह अंश गणधरवाद के नाम से जाना जाता है और अब स्वतंत्र रूप से प्रकाशित भी हो चुका है। प्रस्तुत निबंध में इस समग्र चर्चा को समेट पाना सम्भव नहीं था, अतः इस निबंध को यहीं विराम दे रहे हैं।

## वृष्णिदशा : एक परिचय

जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में मान्य अर्द्धमागधी आगम साहित्य के एक वर्ग उपांग साहित्य में बारहवें उपांग के रूप में 'वृष्णिदशा' का नाम आता है। नन्दीसूत्र में जो कालिक और उत्कालिक सूत्रों की सूची दी गई है, उसमें उत्कालिक सूत्रों के अंतर्गत वृष्णिदशा का नामोल्लेख मिलता है। इससे यह तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है कि 'वृष्णिदशा' नामक इस उपांग का अस्तित्व कम से कम नन्दीसूत्र के पूर्व अर्थात् ईसा की पांचवीं शती के पूर्व था। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि स्थानांगसूत्र में जिन दस दशाओं के उल्लेख हैं, उनमें कहीं भी वृष्णिदशा का उल्लेख नहीं है। वृष्णिदशा का सर्वप्रथम उल्लेख नन्दीसूत्र में ही मिलता है। नन्दीसूत्र की चूर्णि (लगभग सातवीं शती) में प्रस्तुत उपांग का नाम 'अन्धकवृष्णिदशा' दिया गया है। मात्र यही नहीं, चूर्णि अन्धक शब्द का अर्थ भी स्पष्ट करती है और उसे पुल के रूप में उल्लेखित करती है। इससे स्पष्ट है कि वृष्णिदशा का पूर्व नाम अंधकवृष्णिदशा था। कालांतर में अंधक शब्द लुप्त हो गया और केवल, वृष्णिदशा- ऐसा नाम ही शेष रह गया। इसका रचनाकाल ईस्वी सन् की पांचवीं शती से पूर्व है, किंतु इसके रचयिता का कोई उल्लेख नहीं है।

हरिवंशपुराण में 'अंधकवृष्णि' का उल्लेख मिलता है। उसमें यह बताया गया कि बलराम, कृष्ण और अरिष्टनेमि का जन्म अन्धकवृष्णि कुल में हुआ था। वहां अन्धकवृष्णि को कृष्ण, बलराम और बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का दादा कहा गया है। अन्धकवृष्णि के समुद्रविजय, वसुदेव आदि दस पुत्र हुए। जहां

समुद्रविजय से अरिष्टनेमि का जन्म हुआ, वहीं वसुदेव के कृष्ण और बलराम नामक पुत्र हुए। हिन्दू परम्परा के हरिवंशपुराण के तैत्तिरीय अर्थात् अध्याय में भी यदुवंश की उत्पत्ति का तथा चौत्तिसवें अध्याय में वृष्णिवंश का उल्लेख मिलता है।

दोनों परम्पराओं के आधार पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि अन्धकवृष्णि से ही वृष्णिवंश का प्रारम्भ हुआ। प्रस्तुत उपांग वृष्णिदशा में हमें वृष्णिवंश के निम्न बारह राजकुमारों का उल्लेख मिलता है- १. निषध, २. मातलि, ३. वह, ४. वहे, ५. यगया, ६. युक्ति, ७. दशरथ, ८. दृढरथ, ९. महधन्वा, १०. सप्तधन्वा, ११. दशधन्वा, १२. शतधन्वा।

वृष्णिदशा में निषध आदि जिन बारह बालकों का उल्लेख है, उन्हें कृष्ण के बड़े भ्राता बलराम की रानी रेवती का पुत्र बताया गया है।

यहां दो तीन बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं- प्रथम तो यह कि वृष्णिदशा के नाम से ऐसा लगता है कि यह दस अध्यायों का कोई ग्रंथ है, किंतु वर्तमान में इसमें बारह अध्याय पाए जाते हैं। इस ग्रंथ में जो बारह अध्यायों के नाम उल्लेखित किए गए हैं, उनमें मात्र प्रथम अध्याय का ही विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, शेष अध्याय का विवरण न देकर मात्र यह कह दिया गया है कि शेष ग्यारह अध्यायों का वर्णन प्रथम अध्याय के समान ही जान लेना चाहिए। इस आधार पर यहां यह विचार उत्पन्न होता है कि क्या शेष राजकुमार भी कृष्ण के बड़े भ्राता बलदेव की रानी रेवती के ही पुत्र थे? किंतु मूल ग्रंथ में इस सम्बंध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि ये सभी राजकुमार वृष्णिवंश से सम्बंधित रहे हैं।

जहां तक वृष्णिदशा नामक इस बारहवें उपांगसूत्र की विषय-वस्तु का प्रश्न है, मूल ग्रंथ में सर्वप्रथम द्वारिका नगरी का वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् रैवतक पर्वत तथा उसकी तलहटी में स्थित नंदनवन का उल्लेख हुआ है। यह सभी विवरण अन्तकृत्दशा नामक अष्टम अंगसूत्र के समान ही है, इसमें कोई नवीनता या भिन्नता परिलक्षित नहीं होती है। तदनन्तर इस नंदनवन उद्यान में अरिष्टनेमि के आगमन का उल्लेख है। फिर कृष्ण वासुदेव द्वारा निषधकुमार आदि अपने परिवार के साथ अरिष्टनेमि भगवान् के दर्शनार्थ जाने का उल्लेख है। निषधकुमार को देखकर वरदत्त मुनि के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अरिष्टनेमि वरदत्त अणगार की इस जिज्ञासा को शांत करते हुए सर्वप्रथम निषधकुमार के

वीरांगद नामक पूर्व भव का विवेचन करते हैं। उसके बाद निषधकुमार की दीक्षा और साधना का वर्णन किया गया है। अंत में, निषधकुमार के स्वर्गवास के पश्चात् उनकी देवलोक में उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। फिर यह बताया गया है कि निषधकुमार का जीव देवलोक से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और दीक्षित होकर अपने साधनों के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह मूल ग्रंथ अति संक्षिप्त है, फिर भी इसमें निषधकुमार के पूर्वभव का तथा परवर्ती भव सहित तीन भवों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त, मूलग्रंथ में विशेष कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, फिर भी निषधकुमार के तीन भवों के उल्लेख से पुनर्जन्म और आत्मा की नित्यता की पुष्टि हो जाती है।

इसमें शेष ग्यारह अध्यायों की प्रथम अध्याय से जो समरूपता बताई गई है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि निषधकुमार के समान शेष भाइयों ने भी संयमव्रत ग्रहण किया होगा और संथारापूर्वक देहत्याग करके स्वर्ग में उत्पन्न हुए होंगे और फिर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

प्रस्तुत कृति में अष्टमंगल का उल्लेख है और अष्टमंगल का अंकन हमें मथुरा के शिल्प में ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से मिलने लगता है, अतः वृष्णिदशा का रचनाकाल भी इसी के आस-पास होना चाहिए। मेरी दृष्टि में निर्ग्रन्थ परम्परा में कृष्ण और उनके वृष्णिवंश का उल्लेख भी इन्हीं शताब्दियों में प्रारम्भ हुआ होगा।

इसके अतिरिक्त, वृष्णिदशा में द्वारिका नगरी, रैवतक पर्वत, नन्दनवन उद्यान, सुरप्रिय यक्षायतन, अरिष्टनेमि के आगमन और कृष्णवासुदेव, बलदेव आदि के दर्शनार्थ जाने आदि के जो उल्लेख इस उपांगसूत्र में हैं, वे अंतकृद्दशा आदि ग्रंथों में भी मिलते हैं, उसमें न तो किसी प्रकार की नवीनता है और न कोई वैशिष्ट्य ही है।

## राजप्रश्नीयसूत्र में चार्वाक मत का प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षा

जैन आगमों में चार्वाक दर्शन के देहात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थन में और उसके खण्डन के लिए तर्कप्रस्तुत करने वाला सर्वप्रथम राजप्रश्नीयसूत्र है। यही एकमात्र ऐसा प्राकृत आगम ग्रंथ है, जो चार्वाक दर्शन के उच्छेदवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष- दोनों के संदर्भ में अपने तर्क प्रस्तुत करता है। राजप्रश्नीय में चार्वाकों की इन मान्यताओं के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है-

१. राजा पएसी कहता है- हे केशीकुमार श्रमण्! मेरे दादा अत्यंत अधार्मिक थे। आपके कथानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह को अत्यंत प्रिय था, अतः मेरे पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी सेयंविया (श्वेताम्बिका) नगरी में अधार्मिक कृत्य करता था, यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन-रक्षण नहीं करता था। इस कारण बहुत एवं अतीव कलुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ, किंतु हे पौत्र! तुम अधार्मिक मत होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन-रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप- कर्मों का उपार्जन-संचय ही करना।

देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रतिउत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न समाधान प्रस्तुत किया- हे राजन्! जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को इसलिए नहीं छोड़ देते हो कि वह जाकर अपने पुत्र-मित्र और ज्ञातिजनों को यह बताए कि मैं अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना। इसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए आना चाहकर भी यहां आने में समर्थ नहीं हैं। नारकीय जीव निम्न चार कारणों से मनुष्यलोक में नहीं आ सकते, क्योंकि उनमें नरक से निकलकर मनुष्यलोक में आने की सामर्थ्य ही नहीं होती। (देखें- राजप्रश्नीयसूत्र, सं. मधुकरमुनि सूत्र २४२-२६०)

नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति भी नहीं देते। तीसरे, नरक सम्बंधी असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने से वहां से नहीं निकल पाते। चौथे, उनका नरक सम्बंधी आयुष्यकर्म जब तक क्षीण नहीं होता, तब तक वे

वहां से नहीं आ सकते। अतः, तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर एक ही हैं, अपितु यह मान्यता रखो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है। स्मरण रहे कि दीघनिकाय में भी नरक से मनुष्यलोक में न आ पाने के इन्हीं चार कारणों का उल्लेख किया गया है। केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क प्रस्तुत किया।

हे श्रमण! मेरी दादी अत्यंत धार्मिक थीं, आप लोगों के मत अनुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होगी। मैं अपनी दादी का अत्यंत प्रिय था; अतः उसे मुझे आकर यह बताना चाहिए कि हे पौत्र! अपने पुण्य कर्मों के कारण मैं स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूं। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बिताओ, जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न होओ। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया, अतः मैं यही मानता हूं कि जीवन और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया- हे राजन्! यदि तुम स्नान, बलिकर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि हे स्वामिन्! यहां आओ! कुछ समय के लिए यहां बैठो, खड़े होओ, तो क्या तुम उस पुरुष की बात को स्वीकार करोगे। निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे। इसी प्रकार, हे राजन्! देवलोक में उत्पन्न देव वहां के दिव्य कामभागों में इतने मूर्च्छित, गृधु और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्यलोक में आने की इच्छा नहीं करते। दूसरे, देवलोक सम्बंधी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य सम्बंधी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है, अतः वे मनुष्यलोक में नहीं आ पाते। तीसरे, देवलोक में देव वहां के दिव्य कामभागों में मूर्च्छित या तल्लीन होने के कारण, अभी जाता हूं, अभी जाता हूं- ऐसा सोचते रहते हैं, किंतु उतने समय में अल्पायुष्य वाले मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं। (क्योंकि देवों का एक दिन-रात मनुष्यलोक के सौ वर्ष के बराबर होता है, अतः एक दिन का भी विलम्ब होने पर वहां मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाता है।) पुनः, मनुष्यलोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण देव मनुष्यलोक में आना नहीं चाहते हैं। अतः, तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने

पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही लोहे की कुम्भी में बंद करवाकर अच्छी तरह से लोहे से उसका मुख ढंक दिया, फिर उस पर गरम लोहे और रांगे से लेप करा दिया तथा उसकी देख-रेख के लिए अपने विश्वासपात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने उस कुम्भी को खुलवाया, तो देखा कि वह मनुष्य मर चुका था, किंतु उस कुम्भी में कोई भी छिद्र, विवर या दरार नहीं थी, जिससे उसमें बंद पुरुष का जीव बाहर निकला हो, अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया-

जिस प्रकार एक ऐसी कुटागारशाला, जो अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका द्वार गुप्त हो, यहां तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके, यदि उस कुटागारशाला में कोई व्यक्ति जोर से भेरी बजाए, तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनाई देगी कि नहीं? निश्चय ही वह आवाज सुनाई देगी, अतः जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गतिवाला है, उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत गतिवाला है, अतः तुम वहां श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। (ज्ञातव्य है कि अब यह तर्क विज्ञानसम्मत नहीं रह गया है, यद्यपि आत्मा की अमूर्तता के आधार पर भी राजा के उपर्युक्त तर्क का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है।) केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया-

मैंने एक पुरुष को प्राणरहित करके एक लौहकुम्भी में सुलवा दिया तथा ढक्कन से उसे बंद करके उस पर रांगे का लेप करवा दिया। कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया, तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा, किंतु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था, जिससे उसमें जीव प्रवेश करके उत्पन्न हुए हों, अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने अग्नि से तपाए लोहे के गोले का उदाहरण दिया। जिस प्रकार लोहे में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गतिवाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

केशीकुमार श्रमण का यह प्रत्युत्तर सुनकर राजा ने पुनः नया तर्क प्रस्तुत किया। उसने कहा कि मैंने एक व्यक्ति को जीवित रहते हुए और मरने के बाद-दोनों ही दशाओं में तौला, किंतु दोनों के तौल में कोई अंतर नहीं था। यदि मृत्यु के बाद आत्मा उसमें से निकली होती, तो उसका वजन कुछ कम अवश्य होना चाहिए था। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने वायु से भरी हुई और वायु से रहित मशख के तौल होने का उदाहरण दिया और यह बताया कि जिस प्रकार वायु अगुरुलघु है, उसी प्रकार जीव भी अगुरुलघु है, अतः तुम्हारा यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं। (अब यह तर्क भी वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं रह गया है, क्योंकि वैज्ञानिक यह मानते हैं कि वायु में वजन होता है। दूसरे, यह भी प्रयोग करके देखा गया है कि जीवित और मृत शरीर के वजन में अंतर पाया जाता है। उस युग में सूक्ष्म तुला के अभाव के कारण यह अंतर ज्ञात नहीं होता रहा होगा।)

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों को काटकर, चीरकर देखा, लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया, अतः शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने उसे निम्न उदाहरण देकर समझाया-

‘हे राजन् ! तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है। मैं तुझे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। एक बार कुछ वनजीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुंचे। उन्होंने अपने एक साथी से कहा- हे देवानुप्रिय! हम जंगल में लकड़ी लेने जाते हैं, तू इस अग्नि से आग जलाकर हमारे लिए भोजन बनाकर तैयार रखना। यदि अग्नि बुझ जाए, तो लकड़ियों को घिसकर अग्नि जला लेना। उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गई। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारों ओर से उलट-पलट कर देखने लगा, लेकिन आग कहीं नजर नहीं आई। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा, उनके छोटे-छोटे टुकड़े किए, किंतु फिर भी आग दिखाई नहीं दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखो, मैं अभी तक भी भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में जंगल में से उसके साथी लौटकर आ गए, उसने उन लोगों से सारी बातें कहीं। इस पर उनमें से एक साथी ने शर बनाया और शर को अरणि के साथ घिसकर अग्नि जलाकर दिखाई और फिर सबने भोजन बनाकर खाया। हे पण्डी! जैसे लकड़ी



को चीरकर आग पाने की इच्छा रखने वाला उक्त मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीरकर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, किंतु शरीर को चीरकर उसे देखने की प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है, जैसे अरणि को चीर फाड़कर अग्नि को देखने की प्रक्रिया। अतः, हे राजन्! यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।

यहां यह कहा जा सकता है कि ये सभी तर्क वैज्ञानिक युग में इतने सबल नहीं रह गए हैं, किंतु ई.पू. सामान्यतया चार्वाकों के पक्ष के समर्थन में और उनका खण्डन करने के लिए ये ही तर्क प्रस्तुत किए जाते थे, अतः चार्वाक दर्शन के ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से इनका अपना महत्त्व है। जैन और बौद्ध-परम्परा में इनमें अधिकांश तर्क समान होने से इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वतःसिद्ध है।

जैन साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से जहां तक चार्वाक दर्शन के तर्क पुरस्सर प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षा का प्रश्न है- सर्वप्रथम उसे आगमिक व्याख्या साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ विशेषावश्यकभाष्य (ईस्वी सन् की छठवीं शती) में देखा जा सकता है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा ईस्वी सन् की छठवीं शती में प्राकृत भाषा में निबद्ध इस ग्रंथ की लंगभग ५०० गाथाएं तो आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बंधन-मुक्ति आदि अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा से सम्बंधित हैं। इस ग्रंथ का यह अंश गणधरवाद के नाम से जाना जाता है और अब स्वतंत्र रूप से प्रकाशित भी हो चुका है। प्रस्तुत निबंध में इस समग्र चर्चा को समेट पाना सम्भव नहीं था, अतः इस निबंध को यहीं विराम दे रहे हैं।

## प्राचीन जैनागमों-आचारांग, सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित में चार्वाकदर्शन का प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षा

चार्वाक या लोकायत-दर्शन का भारतीय दार्शनिक चिंतन में भौतिकवादी दर्शन के रूप में विशिष्ट स्थान है। भारतीय चिंतन में भौतिकवादी जीवनदृष्टि की उपस्थिति के साहित्यिक प्रमाण अतिप्राचीन काल से ही उपलब्ध होने लगते हैं। भारत की प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक चिंतनधारा ने उसकी समालोचना भी की है। जैन धर्म एवं दर्शन के ग्रंथों में भी इस भौतिकवादी जीवनदृष्टि का प्रतिपादन एवं उसकी समीक्षा अति प्राचीनकाल से ही मिलने लगती है। जैन धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य में महावीर के युग से लेकर आज तक लगभग २५०० वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में इस विचारधारा का प्रस्तुतिकरण एवं समालोचना होती रही है। इस समग्र विस्तृत चर्चा को प्रस्तुत निबंध में समेट पाना सम्भव नहीं है, अतः हम प्राचीन प्राकृत आगम साहित्य तक ही अपनी इस चर्चा को सीमित रखेंगे। प्राचीन प्राकृत जैन-आगम-साहित्य में ऋषिभाषित एक ऐसा ग्रंथ है, जो चार्वाक दर्शन को भौतिकवादी और स्वार्थपरक अनैतिक जीवनदृष्टि का समर्थक न मानकर उसे एक मूल्यपरक सदाचारी जीवनदृष्टि का सम्पोषक और भारतीय श्रमण संस्कृति का अंग मानता है।

प्राचीनतम प्राकृत आगम-साहित्य में मुख्यतया आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समाहित किया जा सकता है। ये सभी ग्रंथ ई.पू. पांचवीं शती से लेकर ई.पू. तीसरी शती के बीच निर्मित हुए हैं- ऐसा माना जाता है।<sup>१</sup> इसके अतिरिक्त, उपांग साहित्य के एक ग्रंथ राजप्रश्नीय को भी हमने इस चर्चा में समाहित किया है। इसका कारण है कि राजप्रश्नीय का वह भाग, जो चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतिकरण और समीक्षा करता है, एक तो चार्वाक दर्शन के पूर्वपक्ष की स्थापना एवं उसकी समीक्षा- दोनों ही दृष्टि से अति समृद्ध है, दूसरे, अति प्राचीन भी माना जाता है, क्योंकि ठीक यही चर्चा हमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भगवान् बुद्ध और राजा पयासी के मध्य होने का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup> जैन परम्परा में इस चर्चा को पाश्वापत्य परम्परा के भगवान् महावीर के समकालीन आचार्य केशीकुमार श्रमण और राजा पयासी के मध्य और बौद्ध त्रिपिटक में भगवान् बुद्ध और राजा पयासी के बीच सम्पन्न हुआ बताया गया है। यद्यपि कुछ

जैन आचार्यों ने पयेसी का संस्कृत रूप प्रदेशी मान लिया है, किंतु देववाचक, सिद्धसेनगणि, मलयगिरि और मुनिचंद्रसूरि<sup>३</sup> ने पयेसी का संस्कृत रूप प्रसेनजित् ही माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक लगता है। प्रसेनजित् को श्वेताम्बिका (सेयंविया) नगरी का राजा बताया गया है, जो इतिहाससिद्ध है। उनका सारथि चित्त केशीकुमार को श्रावस्ती से यहां केवल इसीलिए लेकर आया था कि राजा की भौतिकवादी जीवनदृष्टि को परिवर्तित किया जा सके। कथावस्तु की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा तार्किकता की दृष्टि से ही इसे भी प्रस्तुत विवेचन में समाहित किया गया है।

प्रस्तुत विवेचना में मुख्य रूप से चार्वाक-दर्शन के तज्जीवतच्छरीर-वाद एवं उसकी परलोक तथा पुण्य-पाप की अवधारणाओं का पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुतिकरण के साथ-साथ समीक्षाएं भी प्रस्तुत की गई हैं। इनमें भी ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शती) में चार्वाकों की जीवनदृष्टि का जो प्रस्तुतिकरण है, वह उपर्युक्त विवरण से कुछ विशिष्ट प्रकार का है। उसमें दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देसोक्कल, सव्वोक्कल के नाम से इनके जिन पांच प्रकारों का उल्लेख है,<sup>४</sup> वह भी अन्यत्र किसी भी भारतीय दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार, सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध एवं राजप्रश्नीय में चार्वाकदर्शन की स्थापना और खण्डन-दोनों के लिए जो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, वे भी महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, प्राकृत आगमिक-व्याख्या साहित्य में, मुख्यतः विशेषावश्यकभाष्य (छठवीं शती) के गणधरवाद<sup>५</sup> में चार्वाक दर्शन की विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा-महावीर और गौतम आदि ११ गणधरों के मध्य हुए वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है, वह भी दार्शनिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण कही जा सकती है। अन्य आगमिक संस्कृत टीकाओं (१०वीं-११वीं शती) में भी चार्वाकदर्शन की जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षाओं में दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। चूर्णि, वृत्ति, टीका आदि के अतिरिक्त जैन दार्शनिक ग्रंथों में भी भौतिकवादी जीवनदृष्टि की समीक्षाएं उपलब्ध हैं, किंतु इन सबको तो किसी एक स्वतंत्र ग्रंथ में ही समेटा जा सकता है। अतः, इस निबंध की सीमा-मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए हम अपनी विवेचना को पूर्व निर्देशित प्राचीन स्तर के प्राकृत आगमों तक ही सीमित रखेंगे।

## आचारांग में लोकसंज्ञा के रूप में लोकायत दर्शन का निर्देश

जैन परम्परा में आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध अतिप्राचीन माना जाता है। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि इस ग्रंथ में स्वयं महावीर के वचनों का संकलन हुआ है। इसका रचनाकाल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई.पू. माना जाता है। आचारांग में स्पष्ट रूप से लोकायत दर्शन का उल्लेख तो नहीं है, किंतु इस ग्रंथ के प्रारम्भ में ही लोकायत दर्शन की पुनर्जन्म का निषेध करने वाली अवधारणा की समीक्षा की गई है। सूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है कि कुछ लोगों को यह ज्ञात नहीं होता है कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म करने वाली) है, मैं कहां से आया हूँ और यहां से अपना जीवन समाप्त करके कहां जन्म ग्रहण करूंगा? सूत्रकार कहता है कि व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म ग्रहण करने वाली) है, जो इन दिशाओं और विदिशाओं में संचरण करती है और मैं भी ऐसा ही हूँ, वस्तुतः, जो यह जानता है- वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।<sup>६</sup> इस प्रकार, इस ग्रंथ के प्रारम्भ में ही चार्वाकदर्शन की मान्यताओं के विरुद्ध चार बातों की स्थापना की गई है- आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। आत्मा की स्वतंत्र और नित्य सत्ता को स्वीकार करना आत्मवाद है। संसार को यथार्थ मानकर आत्मा को लोक में जन्म-मरण करने वाला समझना लोकवाद है। शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों में विश्वास करना कर्मवाद है। आत्मा को शुभाशुभ कर्मों की कर्ता-भोक्ता एवं परिणामी (परिवर्तनशील) मानना क्रियावाद है। इसी प्रकार, आचारांग में लोकसंज्ञा का परित्याग करके इन सिद्धांतों में विश्वास करने का निर्देश दिया गया है। ज्ञातव्य है कि आचारांग में लोकायत या चार्वाकदर्शन का निर्देश लोकसंज्ञा के रूप में हुआ है।<sup>७</sup> लोकसंज्ञा से ही लोकायत नामकरण हुआ होगा। यद्यपि इस ग्रंथ में इन मान्यताओं की समालोचना तो की गई है, किंतु उसकी कोई तार्किक भूमिका प्रस्तुत नहीं की गई है।

## सूत्रकृतांग में लोकायत दर्शन

आचारांग के पश्चात् सूत्रकृतांग का क्रम आता है। इसके प्रथम श्रुतस्कंध को भी विद्वानों ने अतिप्राचीन (लगभग ई.पू. चौथी शती) माना है। सूत्रकृतांग के प्रथम अध्याय में इसमें चार्वाक-दर्शन के पंचमहाभूतवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसमें पंचमहाभूतवाद को प्रस्तुत

करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और आकाश- ऐसे पांच महाभूत माने गए हैं। उन पांच महाभूतों से ही प्राणी की उत्पत्ति होती है और देह का विनाश होने पर देही का भी विनाश हो जाता है<sup>८</sup>, साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति चाहे मूर्ख हो या पण्डित, प्रत्येक की अपनी आत्मा होती है, जो मृत्यु के बाद नहीं रहती। प्राणी औपपातिक अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करने वाले नहीं हैं। शरीर का नाश होने पर देही अर्थात् आत्मा का भी नाश हो जाता है। इस लोक से परे न तो कोई लोक है और न पुण्य और पाप ही है।<sup>९</sup> इस प्रकार, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध में चार्वाकदर्शन की मान्यताओं का उल्लेख मिलता है, किंतु यहां भी उनकी कोई स्पष्ट तार्किक समालोचना परिलक्षित नहीं होती है। यद्यपि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में चार्वाकदर्शन की समीक्षा प्रस्तुत की गई है, किंतु विद्वानों ने उसे किंचित् परवर्ती माना है, अतः उसके पूर्व हम उत्तराध्ययन का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

### उत्तराध्ययन में लोकायतदर्शन

उत्तराध्ययन में चार्वाक दर्शन को जन-श्रद्धा (जन-सिद्धि) कहा गया है।<sup>१०</sup> सम्भवतः, लोकसंज्ञा और जनश्रद्धा- ये लोकायत दर्शन के ही पूर्व नाम हैं। उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सांसारिक विषय ही हमारे प्रत्यक्ष विषय हैं। परलोक को तो हमने देखा ही नहीं। वर्तमान के काम-भोग हस्तगत हैं, जबकि भविष्य में मिलने वाले (स्वर्ग-सुख) अनागत अर्थात् संदिग्ध हैं। कौन जानता है कि परलोक है भी या नहीं? इसलिए मैं तो जनश्रद्धा के साथ होकर रहूंगा।<sup>११</sup> इस प्रकार, उत्तराध्ययन के पंचम अध्याय में चार्वाकों की पुनर्जन्म के निषेध की अवधारणा का उल्लेख एवं खण्डन किया गया है। इसी प्रकार, उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्याय में भी चार्वाकों के असत् से सत् की उत्पत्ति का एवं पंचमहाभूत से चेतना की उत्पत्ति का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है, जो वस्तुतः असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धांत है। यद्यपि उत्तराध्ययन में असत्कार्यवाद का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह असत्कार्यवाद के पक्ष में न जाकर सत्कार्यवाद के पक्ष में ही जाता है। उसमें कहा गया है कि जैसे अरणि में अग्नि, दूध में घृत और तिल में तेल असत् होकर भी उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव भी असत् होकर ही उत्पन्न होता है और उस शरीर का नाश हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है।<sup>१२</sup>

सम्भवतः, उत्तराध्ययन में चार्वाकों के असत्कार्यवाद की स्थापना के पक्ष में ये सत्कार्यवाद की सिद्धि करने वाले उदाहरण इसीलिए दिए गए होंगे, ताकि इनकी समालोचना सरलतापूर्वक की जा सके। उत्तराध्ययन में आत्मा को अमूर्त होने के कारण इंद्रियग्राह्य नहीं माना गया है और अमूर्त होने से नित्य कहा गया है।<sup>१३</sup> उपर्युक्त विवरण से चार्वाकों के संदर्भ में निम्न जानकारी मिलती है-

१. चार्वाकदर्शन को 'लोकसंज्ञा' और 'जनश्रद्धा' के नाम से अभिहित किया जाता था।
२. चार्वाकदर्शन आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानता था, अपितु पंचमहाभूतों से चेतना की उत्पत्ति बताता था।
३. कारणतावाद में वह असत्कार्यवाद अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति के सिद्धांत को स्वीकार करता था।
४. शरीर के नाश के साथ आत्मा के विनाश को स्वीकार करता था तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत को अस्वीकार करता था। पुनर्जन्म की अस्वीकृति के साथ-साथ वह परलोक अर्थात् स्वर्ग-नरक की सत्ता को भी अस्वीकार करता था।
५. वह पुण्य-पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों को भी अस्वीकार करता था, अतः कर्मसिद्धांत का विरोधी था।
६. उस युग में दार्शनिकों का एक वर्ग अक्रियावाद का समर्थक था। जैनों के अनुसार अक्रियावादी वे दार्शनिक थे, जो आत्मा को अकर्ता और कूटस्थनित्य मानते थे। आत्मवादी होकर भी शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फल (कर्मसिद्धांत) के निषेधक होने से ये प्रच्छन्न चार्वाकी ही थे।

इस प्रकार आचारांग, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में चार्वाकदर्शन के जो उल्लेख हमें उपलब्ध होते हैं, वे मात्र उसकी अवधारणाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। उनमें इस दर्शन की मान्यताओं से साधक को विमुख करने के लिए इतना तो अवश्य कहा गया है कि यह विचारधारा समीचीन नहीं है, किंतु इन ग्रंथों में चार्वाकदर्शन की मान्यताओं का प्रस्तुतिकरण और निरसन-दोनों ही न तो तार्किक है और न विस्तृत ही।

सूत्रकृतांग (द्वितीय श्रुतस्कंध) में चार्वाकदर्शन का प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षा<sup>१४</sup>

चार्वाकों अथवा तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का तार्किक दृष्टि से प्रस्तुतिकरण और उसकी तार्किक समीक्षा का प्रयत्न जैन आगम साहित्य में सर्वप्रथम सूत्रकृतांग के द्वितीय पौण्डरिक नामक अध्ययन में और उसके पश्चात्, राजप्रश्नीयसूत्र में उपलब्ध होता है। अब हम सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कंध के आधार पर तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का प्रस्तुतिकरण करेंगे और उसकी समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

तज्जीवतच्छरीरवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि 'पादतल से ऊपर मस्तक के केशों के अग्रभाग से नीचे तक तथा समस्त त्वक्पर्यन्त जो शरीर है, वही जीव है। इस शरीर के जीवित रहने तक ही यह जीव जीवित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए शरीर के अस्तित्व-पर्यन्त ही जीवन का अस्तित्व है। इस सिद्धांत को युक्ति-युक्त समझना चाहिए, क्योंकि जो लोग युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित करते हैं कि शरीर अन्य है और जीव अन्य है, वे जीव और शरीर को पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखा सकते। वे यह भी नहीं बता सकते कि आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व है, अथवा वह भारी है, हल्का है, स्निग्ध है या रुक्ष है। अतः, जो लोग जीव और शरीर को भिन्न नहीं मानते, उनका ही मत युक्तिसंगत है', क्योंकि जीव और शरीर को निम्नोक्त पदार्थों की तरह पृथक् - पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता, यथा-

१. तलवार और म्यान की तरह,
२. मुंज और इषिका की तरह,
३. मांस और हड्डी की तरह,
४. हथेली और आंवले की तरह,
५. दही और मक्खन की तरह,
६. तिल की खली और तेल की तरह,
७. ईख और उसके छिलके की तरह,
८. अरणि की लकड़ी और आग की तरह।

इस प्रकार, जैनागमों में प्रस्तुत ग्रंथ में ही सर्वप्रथम देहात्मवादियों के दृष्टिकोण को तार्किक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। पुनः, उनकी

देहात्मवादी मान्यता के आधार पर उनकी नीति सम्बंधी अवधारणाओं को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया गया है-

यदि शरीर मात्र ही जीव है, तो परलोक नहीं है। इसी प्रकार, क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, भला-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, स्वर्ग-नरक आदि भी नहीं हैं। अतः, प्राणियों के वध करने, भूमि खोदने, वनस्पतियों को काटने, अग्नि को जलाने, भोजन पकाने आदि क्रियाओं में भी पाप नहीं है।

प्रस्तुत ग्रंथ में देहात्मवाद की युक्ति-युक्त समीक्षा न करके मात्र यह कहा गया है कि ऐसे लोग, हमारा ही धर्म सत्य है- ऐसा प्रतिपादन करते हैं और श्रमण होकर भी सांसारिक भोग विलासों में फंस जाते हैं।

इसी अध्याय में पुनः पंचमहाभूतवादियों तथा पंचमहाभूत और छठवां आत्मा मानने वाले सांख्यों का भी उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ की सूचना के अनुसार पंचमहाभूतवादी स्पष्ट रूप से यह मानते थे कि इस जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ हैं, जिनसे अर्थात् पंचमहाभूतों से हमारी क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, अच्छा-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, नरकगति या नरक के अतिरिक्त अन्य गति, अधिक कहां तक कहें, तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी होती है, क्योंकि आत्मा तो अकर्ता है।

उस भूतसमयाय (समूह) को पृथक्-पृथक् नाम से जानना चाहिए जैसे कि- पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पांचवां महाभूत है। ये पांच महाभूत किसी कर्ता के द्वारा निर्मित नहीं हैं और न ही ये किसी कर्ता द्वारा बनाए हुए हैं, ये किए हुए भी नहीं हैं, न ही ये कृत्रिम हैं और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं। ये पांचों महाभूत आदि एवं अंत रहित हैं तथा अवध्य और आवश्यक कार्य करने वाले हैं। इन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतंत्र एवं शाश्वत नित्य हैं। यह ज्ञातव्य है कि जैनागमों में ऐसा कोई भी संदर्भ उपलब्ध नहीं होता है कि जिसमें मात्र चार महाभूत (आकाश को छोड़कर) मानने वाले चार्वाकों का उल्लेख हुआ हो।

प्रस्तुत ग्रंथ में पंचमहाभूतवादियों के उपर्युक्त विचारों के साथ-साथ पंचमहाभूत और छठवां आत्मा- ऐसे छः तत्त्वों को मानने वाले विचारकों का भी उल्लेख हुआ है।



इनकी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही जीवकाय है, इतना ही अस्तिक्राय है और इतना ही समग्र लोक हैं। पंचमहाभूत ही लोक का कारण हैं। संसार में तृण-कम्पन से लेकर जो कुछ होता है, वह सब इन पांच महाभूतों से होता है। आत्मा के असत् अथवा अकर्ता होने से हिंसा आदि कार्यों में पुरुष दोष का भागी नहीं होता, क्योंकि सभी कार्य भूतों के हैं, सम्भवतः यह विचारधारा सांख्यदर्शन का पूर्ववर्ती रूप हैं। इसमें पंचमहाभूतवादियों की दृष्टि से आत्मा को असत् माना गया है तथा पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मा को मानने वालों की दृष्टि से आत्मा को अकर्ता कहा गया है। सूत्रकृतांग इनके अतिरिक्त ईश्वरकारणवादी और नियतिवादी जीवनदृष्टियों को भी कर्मसिद्धांत का विरोधी होने के कारण मिथ्यात्व का प्रतिपादक ही मानता है। इस प्रकार, ऋषिभाषित के देशोत्कल को सूत्रकृतांग के पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मवादियों के उपर्युक्त विवरण में पर्याप्त रूप से निकटता देखी जा सकती है। जैनों की मान्यता यह थी कि वे सभी विचारक मिथ्यादृष्टि हैं, जिनकी दार्शनिक मान्यताओं में धर्माधर्मव्यवस्था या कर्मसिद्धांत की अवधारणा स्पष्ट नहीं होती। हम यहां यह देखते हैं कि इन दार्शनिक मान्यताओं में देह-आत्मवाद की स्थापना करते हुए देह और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, इस मान्यता का तार्किक रूप से निरसन किया गया है, किंतु यह मान्यता क्यों समुचित नहीं है? इस सम्बंध में स्पष्ट रूप से कोई भी तर्क नहीं दिए गए हैं। सूत्रकृतांग देहात्मवाद के समर्थन में तो तर्क देता है, किंतु उसके निरसन में कोई तर्क नहीं देता है। यहां हमने आचारांग, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन की अपेक्षा से चार्वाकदर्शन की चर्चा की है। ऋषिभाषित और राजप्रश्नीय की अपेक्षा से चार्वाकदर्शन की समीक्षा निम्नानुसार है।

### ऋषिभाषित में प्रस्तुत चार्वाकदर्शन

प्राचीन जैन आगमों में चार्वाकदर्शन की तार्किक प्रतिस्थापना और तार्किक समीक्षा हमें सर्वप्रथम ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शती) में ही मिलती है। उसके पश्चात् सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध (ई.पू. प्रथम शती) में तथा राजप्रश्नीय (ई.पू. प्रथम शती) में मिलती है। ऋषिभाषित का बीसवां 'उक्कल' नामक सम्पूर्ण अध्ययन ही चार्वाकदर्शन की मान्यताओं के तार्किक प्रस्तुतिकरण से युक्त है। चार्वाकदर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद का प्रस्तुतिकरण इस ग्रंथ में

निम्न प्रकार से हुआ है-

‘पादतल से ऊपर और मस्तक के केशाग्र से नीचे तक सम्पूर्ण शरीर की त्वचापर्यन्त जीव आत्मपर्याय को प्राप्त हो, जीवन जीता है और इतना ही मात्र जीवन है। जिस प्रकार बीज के भुन जाने पर उससे पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर उससे पुनः शरीर (जीवन) की उत्पत्ति नहीं होती है, इसीलिए जीवन इतना ही है (अर्थात् शरीर की उत्पत्ति से विनाश तक की कालावधि पर्यन्त ही जीवन है), न तो परलोक है, न सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल विपाक है। जीव का पुनर्जन्म भी नहीं होता है। पुण्य और पाप जीव का संस्पर्श नहीं करते हैं और इस तरह कल्याण और पाप निष्फल हैं। ऋषिभाषित में चार्वाकों की इस मान्यता की समीक्षा करते हुए पुनः कहा गया है कि ‘पादतल से ऊपर तथा मस्तक के केशाग्र से नीचे और शरीर की सम्पूर्ण त्वचा पर्यन्त आत्मपर्याय को प्राप्त ही जीव है, यह मरणशील है, किंतु जीवन इतना ही नहीं है। जिस प्रकार बीज के जल जाने पर उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिए पुण्य-पाप का अग्रहण होने से सुख-दुःख की सम्भावना का अभाव हो जाता है और पापकर्म के अभाव में शरीर के दहन से या शरीर के दग्ध होने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता है।’ इस प्रकार व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यहां हम देखते हैं कि ग्रंथकार चार्वाकों के अपने ही तर्क का उपयोग करके यह सिद्ध कर देता है कि पुण्य-पाप से ऊपर उठकर व्यक्ति पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति पा लेता है।

इस ग्रंथ में चार्वाकदर्शन के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें कर्मसिद्धांत का उत्थापन करने वाले चार्वाकों के पांच प्रकारों का उल्लेख हुआ है और ये प्रकार अन्य दार्शनिक ग्रंथों में मिलने वाले देहात्मवाद, इंद्रियात्मवाद, मनःआत्मवाद आदि प्रकारों से भिन्न हैं और सम्भवतः अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते हैं। इसमें निम्न पांच प्रकार के उक्कलों का उल्लेख है- दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देशोक्कल और सव्वुक्कल। इस प्रसंग में सबसे पहले तो यही विचारणीय है कि उक्कल शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? प्राकृत के उक्कल शब्द को संस्कृत में निम्न चार शब्दों से निष्पन्न माना जा सकता है- उत्कट, उत्कल, उत्कुल और उत्कूल। संस्कृत कोशों में उत्कट शब्द का अर्थ

उन्मत्त दिया गया है। चूंकि चार्वाकदर्शन अध्यात्मवादियों की दृष्टि में उन्मत्तों का प्रलाप था, अतः उसे उत्कट (उन्मत्त) कहा गया है। मेरी दृष्टि में उक्कल का संस्कृत रूप उत्कट मानना उचित नहीं है। उसके स्थान पर उत्कल, उत्कुल या उत्कूल मानना अधिक समीचीन है। उत्कल का अर्थ है- जो निकाला गया हो, इसी प्रकार उत्कुल शब्द का तात्पर्य है- जो कुल से निकाला गया है, या जो कुल से बहिष्कृत है। चार्वाक आध्यात्मिक परम्पराओं से बहिष्कृत माने जाते थे, इसी दृष्टि से उन्हें उत्कल या उत्कुल कहा गया होगा।

यदि हम इसे उत्कूल से निष्पन्न मानें, तो इसका अर्थ होगा- किनारे से अलग हटा हुआ। 'कूल' शब्द किनारे अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः 'उत्कूल' अर्थात् जो किनारे से अलग होकर अर्थात् मर्यादाओं को तोड़कर अपना प्रतिपादन करता है, वह उक्कूल है। चूंकि चार्वाक मर्यादाओं को अस्वीकार करते थे, अतः उन्हें उत्कूल कहा गया होगा। अब हम इन उक्कलों के पांच प्रकारों की चर्चा करेंगे-

### दण्डोक्कल -

ये विचारक दण्ड के दृष्टांत द्वारा यह प्रतिपादित करते थे कि जिस प्रकार दण्ड अपने आदि, मध्य और अंतिम भाग से पृथक् होकर दण्ड संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है, उसी प्रकार शरीर से भिन्न होकर जीव जीव नहीं रहता है। अतः, शरीर के नाश हो जाने पर भव अर्थात् जन्म-परम्परा का भी नाश हो जाता है। उनके अनुसार, शरीर में व्याप्त होकर जीव जीवन को प्राप्त होता है। वस्तुतः, शरीर और जीवन की अपृथक्ता या सामुदायिकता ही इन विचारकों की मूलभूत दार्शनिक मान्यता थी। दण्डोक्कल देहात्मवादी थे।

### रजूक्कल -

रजूक्कलवादी यह मानते हैं कि जिस प्रकार रजू तंतुओं का स्कंध- मात्र है, उसी प्रकार जीवन भी पंचमहाभूतों का स्कंध-मात्र है। उन स्कंधों के विच्छिन्न होने पर भव-संतति का भी विच्छेद हो जाता है। वस्तुतः, ये विचारक पंचमहाभूतों के समूह को ही जगत् का मूल तत्त्व मानते थे और जीव को स्वतंत्र के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। रजूक्कल स्कंधवादी थे।

## स्तेनोक्कल -

ऋषिभाषित के अनुसार स्तेनोक्कल भौतिकवादी अन्य शास्त्रों के दृष्टान्तों को लेकर उनकी स्वपक्ष में उद्भावना करके यह मानते थे कि हमारा भी यही कथन है। इस प्रकार ये दूसरों के सिद्धान्तों का उच्छेद करते हैं। परपक्ष के दृष्टान्तों का स्वपक्ष में प्रयोग का तात्पर्य सम्भवतः वाद-विवाद में 'छल' का प्रयोग हो। सम्भवतः, स्तेनोक्कल या तो नैयायिकों का कोई पूर्व रूप रहे हो, या संजयवेलट्टी-पुत्र के सिद्धान्त का यह प्राचीन कोई विधायक रूप था, जो सम्भवतः आगे चलकर अनेकांतवाद का आधार बना हो। ज्ञातव्य है कि ऋषिभाषित में देहात्मवादियों के तर्कों से मुक्ति की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है।

## देशोक्कल -

ऋषिभाषित में, जो आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करके भी जीव को अकर्ता मानते थे, उन्हें देशोक्कल कहा गया है। आत्मा को अकर्ता मानने पर पुण्य-पाप, बंधन-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पाती है, इसलिए इस प्रकार के विचारकों को भी आंशिक रूप से उच्छेदवादी ही कहा गया है। क्योंकि पुण्य-पाप, बंधन-मोक्ष आदि का निरसन करने के कारण ये भी कर्मसिद्धान्त, नैतिकता एवं धर्म के अपलापक ही थे, अतः इन्हें भी इसी वर्ग में समाहित किया गया था।

सम्भवतः, ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रंथ है, जो आत्म अकर्तावादियों को उच्छेदवादी कहता है। वस्तुतः, ये सांख्य और औपनिषदिक-वेदान्त के ही पूर्व रूप थे। जैन उन्हें उत्कूल या उच्छेदवादी इसलिए मानते थे कि इन मान्यताओं से लोकवाद (लोक की यथार्थता), कर्मवाद (कर्मसिद्धान्त) और आत्मकर्तावाद (क्रियावाद) का खण्डन होता है।

## सर्वोक्कल -

सर्वोत्कूल सर्वदा अभाव से ही उत्पत्ति बताते थे। ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है, जो सर्वथा सर्व प्रकार से सर्वकाल से रहता हो, इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद की संस्थापना करते थे। दूसरे शब्दों में, जो लोग समस्त सृष्टि के पीछे किसी नित्य तत्त्व को स्वीकार नहीं करते थे और अभाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे, वे कहते थे कि कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो सर्वथा और सर्वकालों में अस्तित्व रखता हो। संसार के मूल में किसी भी सत्ता को अस्वीकार करने के

कारण ये सर्वोच्छेदवादी कहलाते थे। सम्भवतः, यह बौद्ध ग्रंथों में सूचित उच्छेदवादी दृष्टि का कोई प्राचीनतम रूप था, जो तार्किकता से युक्त होकर बौद्धों के शून्यवाद के रूप में विकसित हुआ होगा।

इस प्रकार ऋषिभाषित में आत्मा, पुनर्जन्म, धर्म-व्यवस्था एवं कर्मसिद्धांत के अपलापक विचारकों का जो चित्रण उपलब्ध होता है, उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है-

१. ग्रंथकार उपर्युक्त विचारकों को 'उक्कल' नाम से अभिहित करता है, जिसके संस्कृत रूप उत्कल, उत्कुल अथवा उत्कूल होते हैं, जिनके अर्थ होते हैं- बहिष्कृत या मर्यादा का उल्लंघन करने वाला। इन विचारकों के सम्बंध में इस नाम का अन्यत्र कहीं प्रयोग हुआ है, ऐसा हमें ज्ञात नहीं होता।

२. इसमें इन विचारकों के पांच वर्ग बताए गए हैं- दण्डोत्कल, रज्जुत्कल, स्तेनोत्कल, देशोत्कल और सर्वोत्कल। विशेषता यह है कि इसमें स्कंधवादियों (बौद्ध स्कंधवाद का पूर्व रूप) सर्वोच्छेदवादियों (बौद्ध शून्यवाद का पूर्व रूप) और आत्म-अकर्तावादियों (अक्रियावादियों-सांख्य और वेदांत का पूर्व रूप) को भी इसी वर्ग में सम्मिलित किया गया है, क्योंकि ये सभी तार्किक रूप से कर्म-सिद्धांत एवं धर्मव्यवस्था के अपलापक सिद्ध होते हैं, यद्यपि आत्म-अकर्तावादियों को देशोत्कल कहा गया है, अर्थात् आंशिक रूप से अपलापक कहा गया है।

३. इसमें शरीरपर्यन्त आत्म-पर्याय मानने का, जो सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है, वही जैनों द्वारा आत्मा को देहपरिमाण मानने के सिद्धांत का पूर्व रूप प्रतीत होता है, क्योंकि इस ग्रंथ में शरीरात्मवाद का निराकरण करते समय इस कथन को स्वपक्ष में भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इसमें जैन, बौद्ध और सांख्य तथा औपनिषदिक-वेदांत की दार्शनिक मान्यताओं के पूर्व रूप या बीज परिलक्षित होते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन मान्यताओं के सुसंगत बनाने के प्रयास में ही इन दर्शनों का उदय हुआ है।

४. इसमें जो देहात्मवाद का निराकरण किया गया है, वह ठोस तार्किक आधारों पर स्थित नहीं है, मात्र यह कह दिया गया है कि जीव का जीवन शरीर की उत्पत्ति और विनाश की कालसीमा तक सीमित नहीं है। इससे यह फलित होता है कि कुछ विचारक जीव को देहाश्रित मानकर भी देहांतर की सम्भावना अर्थात् पुनर्जन्म की सम्भावना को स्वीकार करते थे।

ऋषिभाषित में उत्कटवादियों (चार्वाकों) से सम्बंधित अध्ययन के अंत में कहा गया है-

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताइ णो पणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्तिबेमि।

अर्थात्, इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, करुणा से द्रवित एवं पूर्ण त्यागी बनता है और पुनः इस संसार में नहीं आता है आदि कहा गया है, अतः देहात्मवादी होकर लोकायत दार्शनिक भौतिकवादी या भोगवादी नहीं थे। वे भारतीय ऋषिपरम्परा के ही अंग थे, जो निवृत्तिमार्गी नैतिक दर्शन के ही समर्थक थे। वे अनैतिक जीवन के समर्थक नहीं थे- उन्हें विरति या दान्त कहना उनको त्यागमार्ग एवं नैतिक जीवन का सम्पोषक ही सिद्ध करना है।

वस्तुतः, लोकायत दर्शन को जो भोगवादी जीवन का समर्थक कहा जाता है, वह उनकी तत्त्वमीमांसा के आधार पर विरोधियों द्वारा प्रस्तुत निष्कर्ष हैं। यदि सांख्य का आत्म-अकर्त्तावाद, वेदांत का ब्रह्मवाद, बौद्धदर्शन का शून्यवाद और विज्ञानवाद तप, त्याग के सम्पोषक माने जा सकते हैं, तो देहात्मवादी लोकायत दर्शन को उसी मार्ग का सम्पोषक मानने में कौनसी बाधा है? वस्तुतः, चार्वाक या लोकायत दर्शन देहात्मवादी या तज्जीवतच्छरीरवादी होकर नैतिक मूल्यों और सदाचार का सम्पोषक रहा है। इस सीमित जीवन को सन्मार्ग में बिताने का संदेश देता है, उसका विरोध कर्मकाण्ड से रहा है न कि सात्त्विक नैतिक जीवन से। यह बात ऋषिभाषित के उपर्युक्त विवरण से सिद्ध हो जाती है।

संदर्भ -

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-१, भूमिका, पृ. ३९
२. दीघनिकाय, पयासीसुत्त
३. राजप्रश्नीयसूत्र (मधुकर मुनि), भूमिका, पृ. १८
४. ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) अध्याय
५. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १५४९-२०२४
६. आचारांग (मधुकर मुनि) १/१/१/१-३  
'एवमेगेसिं णो णातं भवित-अत्थि मे आया उववाइए...  
...से आयावादी लोगावादी काम्मावादी किरियावादी।'

७. आचारांग १/२/६/१०४- परिणाय लोग सण्णं सव्वसो  
 ८. सूत्रकृतांग (मधुकर मुनि) १/१/१/७-८  
 ९. वही ११-१२  
 १०. उत्तराध्ययनसूत्र ५/७-जणेणसद्धिं होक्खामि  
 ११. वही ५/५-७  
 १२. जहा य अग्गी अरणी उ सन्तो खीरे घटां तेल्ल महातिलेसु।  
 एमेव जाया! सरीरंसि सत्ता संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे।  
 .... उत्तराध्ययनसूत्र, १४/१८  
 १३. नो इन्दियग्गेज्झां अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होई निच्चो।  
 .... वही, १४/१९  
 १४. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्याय १, सूत्र ६४८-६५६

## जैन आगम साहित्य में श्रावस्ती

जैन आगमिक साहित्य में श्रावस्ती का उल्लेख आर्यक्षेत्र के जनपद की राजधानी के रूप में किया गया है। भगवतीसूत्र के अनुसार यह नगरी कृतांगला नामक नगर के निकट स्थित थी। इसके समीप अचिरावती नदी बहती थी। श्रावस्ती नगरी के तिन्दुक उद्यान और कौष्ठक वन का उल्लेख हमें जैनागमों में बहुलता से उपलब्ध होता है। स्थानांगसूत्र में इसे भारतवर्ष की दस प्रमुख राजधानियों, यथा-साकेत, श्रावस्ती, हस्तिनापुर, काम्पिल्य, मिथिला, कौशाम्बी, वाराणसी और राजगृह में से एक माना गया है।

इस वर्णन से ऐसा लगता है कि स्थानांग के रचनाकाल तक जैन परम्परा मुख्य रूप से उत्तर भारत के नगरों से ही परिचित थी। श्रावस्ती का दूसरा नाम कुणाला भी था। जैन साहित्य में श्रावस्ती की दूरी साकेत (अयोध्या) से सात योजन (लगभग ९० किमी) बताई गई है। वर्तमान में श्रावस्ती की पहचान बहराइच जिले के सहेट-महेट ग्राम से की जाती है। आधुनिक उल्लेखों के आधार पर यह बात सत्य भी लगती है, क्योंकि साकेत से सहेट-महेट की दूरी लगभग

उतनी ही है। पुनः, सहेट-महेट का राप्ती नदी के किनारे स्थित होना भी आगमिक तथ्यों की पुष्टि करता है। राप्ती अचिरावती का ही संक्षिप्त और अपभ्रंश रूप है। श्रावस्ती के उत्तर पूर्व में कैकेय जनपद की उपस्थिति मानी गई है और कैकेय जनपद की राजधानी सेयाविया (श्वेताम्बिका) बतलाई गई है। कैकेयी के अर्द्धभाग को ही आर्यक्षेत्र माना जाता था, इसका तात्पर्य यह है कि उस काल में इसके आगे जंगली जातियां निवास करती रही होंगी।

श्रावस्ती को चक्रवर्ती मघवा, राजा जीतशत्रु, पसेनिय (प्रसेनजित्) और रूपि की राजधानी बताया गया है। इसके अतिरिक्त, इस नगर को तीर्थंकर सम्भवनाथ का जन्मस्थान और प्रथम पारणे का स्थान भी माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से हमें जैन आगम साहित्य में जो प्रमाण मिलते हैं, उसके आधार पर इतना निश्चित है कि यह नगर राजा प्रसेनजित् की राजधानी थी। राजप्रश्नीय के अनुसार प्रसेनजित् को पार्श्वपत्नीय-श्रमण केशी ने निर्ग्रन्थ परम्परा का अनुयायी बनाया था। राजप्रश्नीय में प्रसेनजित् को आत्मा के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म के सम्बंध में अनेक शंकाएं थीं, जिन्हें आर्य केशी ने समाप्त किया था। ज्ञाताधर्मकथा और निरयावलिका के उल्लेख के अनुसार पार्श्व श्रावस्ती गए थे और वहां पर उन्होंने काली, पद्मावती, शिवा, वसुपुत्रा आदि अनेक स्त्रियों को दीक्षित किया था। श्रावस्ती में पार्श्वपत्नीयों का प्रभाव था। इस तथ्य की पुष्टि अनेक आगमिक उल्लेखों से होती है। जैन आगम साहित्य में जो उल्लेख पाए जाते हैं, उनसे ऐसा लगता है कि श्रावस्ती पर निर्ग्रन्थों के अतिरिक्त आजीविकों, बौद्धों और हिन्दू परिव्राजकों का भी पर्याप्त प्रभाव था। बौद्ध साहित्य से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि बुद्ध इस नगर में अनेक बार आए थे और उन्होंने यहां अपने प्रतिहार्यों का प्रदर्शन भी किया था। इससे ऐसा लगता है कि उस युग का श्रावस्ती का जनमानस प्रबुद्ध और उदार था और वह विभिन्न धर्म सम्प्रदाय के लोगों को अपने सिद्धांतों को प्रस्तुत करने का अवसर देता था। जैन परम्परा के लिए तो श्रावस्ती अनेक दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण नगर सिद्ध होता है।

भगवतीसूत्र में प्राप्त सूचना के अनुसार जैनों का प्रथम संघ भेद भी श्रावस्ती में ही हुआ था। महावीर के जामातृ जामालि ने यहीं पर 'क्रियमाण अकृत' का सिद्धांत स्थापित किया था और महावीर के संघ से अपने ५०० शिष्यों के साथ अलग हुए थे। जामालि की मान्यता यह थी कि जो कार्य पूर्णतया



समाप्त नहीं हुआ है, उसे कृत नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत, महावीर की मान्यता यह थी कि जो कार्य हो रहा है, उसे सापेक्षिक रूप से कृत कहा जा सकता है, क्योंकि उस कार्य का कुछ अंश तो हो ही चुका है। इस प्रकार, महावीर की संघ व्यवस्था में प्रथम विद्रोह का सूत्रपात श्रावस्ती नगर में ही हुआ था।

पुनः, महावीर और मंखलिपुत्रगोशालक के मध्य विवाद की चरम परिणति भी श्रावस्ती में हुई थी। भगवतीसूत्र के १५ वें शतक के अनुसार आजीवक परम्परा के मंखलिपुत्रगोशालक ने अपना २४वां चातुर्मास श्रावस्ती नगरी के हालाहला नामक कुंभकारी की आपण (दुकान) में किया था। उस समय भगवान् महावीर श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक चैत्य में चातुर्मासार्थ विराजित थे। भगवतीसूत्र में उपलब्ध विवरण के अनुसार प्रथम तो गोशालक ने भिक्षार्थ गए महावीर के श्रमणों के समक्ष श्रावस्ती की सड़कों पर ही महावीर की आलोचना की। पुनः, कोष्ठक वन में आकर महावीर से विवाद किया तथा उन पर तेजोलेश्या फेंकी। उस तेजोलेश्या के कारण महावीर के दो शिष्य सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मरण को प्राप्त होते हैं और स्वयं महावीर भी अस्वस्थ हो जाते हैं। भगवतीसूत्र के १५वें शतक में इस सम्पूर्ण घटनाक्रम का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि महावीर और गोशालक के मध्य विवाद की चरम परिणति भी श्रावस्ती नगर में हुई थी।

किंतु, जहां श्रावस्ती में उस युग के विभिन्न धर्म सम्प्रदायों के बीच विरोध और संघर्ष के स्वर मुखर हुए थे, वहीं महावीर और पार्श्व की परम्पराओं के सम्मिलन का स्थल भी यही नगर था। श्रावस्ती नगर के तिन्दुक उद्यान में पार्श्वपत्य परम्परा के आर्य केशी विराजित थे, वहीं इसी नगर के कोष्ठक उद्यान में महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम विराजित थे। दोनों आचार्यों के शिष्य नगर में जब एक दूसरे से मिलते थे, तो उनमें यह चर्चा होती थी कि एक ही लक्ष्य के लिए प्रवृत्त इन दोनों परम्पराओं में यह मतभेद क्यों है? केशी और गौतम अपने शिष्यों की इन शंकाओं के समाधान के लिए तथा महावीर और पार्श्व की परम्पराओं के बीच कोई समन्वय-सेतु बनाने के लिए परस्पर मिलने का निर्णय करते हैं और गौतम ज्येष्ठ कुल का विचार करके स्वयं केशी श्रमण के पास मिलने हेतु जाते हैं। केशी श्रमण गौतम को सत्कारपूर्वक आसन प्रदान करते हैं। श्रावस्ती के अनेक व्यक्ति भी दोनों आचार्यों की इस विचार-चर्चा को सुनने

हेतु एकत्र हो जाते हैं। दोनों आचार सम्बंधी मतभेदों तथा आध्यात्मिक साधना की विभिन्न समस्याओं पर खुलकर विचार-विमर्श करते हैं। दोनों का श्रावस्ती में यह सौहार्दपूर्ण मिलन ही पार्श्व और महावीर की परम्पराओं के बीच समन्वय सेतु बना।

इसी प्रकार, श्रावस्ती स्कन्दक नामक परिव्राजक और भगवान् महावीर के पारस्परिक मिलन का और लोक, जीव, सिद्धि आदि सम्बंधी अनेक दार्शनिक प्रश्नों पर चर्चा का स्थल भी रहा है। भगवतीसूत्र में प्राप्त उल्लेख के अनुसार श्रावस्ती नगर में आचार्य गर्दभिल्ल के शिष्य कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक निवास करते थे। उसी नगर में निर्ग्रन्थ वैशालिक अर्थात् भगवान् महावीर का श्रावक पिंगल भी निवास करता था। पिंगल और स्कन्दक के बीच लोक, जीव और सिद्धि की सान्ता और अनन्तता पर चर्चा होती है। स्कन्दक इस चर्चा के समाधान के लिए स्वयं श्रावस्ती के निकट ही स्थित कृतमंगलानगर, जहां पर भगवान् महावीर और गौतम विराजित थे, वहां जाता है। गौतम महावीर के निर्देश पर स्कन्दक परिव्राजक का समादरपूर्वक स्वागत करते हैं, उसे महावीर के समीप ले जाते हैं और दोनों में फिर इन्हीं प्रश्नों को लेकर विस्तार से चर्चा होती है। अंत में, स्कन्दक महावीर के विचारों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां एक ओर श्रावस्ती महावीर की अपनी परम्परा में ही उत्पन्न विद्रोह का नगर है, वहीं दूसरी ओर महावीर की परम्परा का अन्य परम्पराओं के साथ कितना सौहार्दपूर्ण व्यवहार था, इसका भी साक्षी स्थल है। वस्तुतः, ऐसा लगता है कि श्रावस्ती के परिवेश में विचार-स्वातन्त्र्य और पारस्परिक सौहार्द के तत्त्व उपस्थित थे। इस नगर के नागरिकों की यह उदारता थी कि वे विभिन्न विचारधाराओं के प्रवर्तकों को समान रूप से समादर देते थे। मात्र यही नहीं, उनमें होने वाली विचार चर्चाओं में भी सहभागी होते थे। श्रावस्ती को हम विभिन्न धर्म- परम्पराओं की समन्वय स्थली कह सकते हैं।

आगमिक सूचनाओं के अनुसार श्रावस्ती नगर के बाहर बहने वाली उस अचिरावती नदी में जल अत्यंत कम होता था और जैन साधु इस नदी को पार करके भिक्षा के लिए आ जा सकते थे, यद्यपि वर्षाकाल में इस नदी में भयंकर बाढ़ भी आती थी।

इस प्रकार, जैन धर्म की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएं श्रावस्ती के साथ जुड़ी हुई हैं, फिर भी यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो बौद्ध साहित्य के

अनुशीलन से ऐसा लगता है कि यहां पर बौद्ध धर्म का प्रभाव अधिक था और स्वयं बुद्ध का इस नगर के प्रति विशिष्ट आकर्षण था। यह ठीक वैसा ही था, जैसा कि महावीर का राजगृही के प्रति। यही कारण है कि बुद्ध ने यहां अनेक चातुर्मास किए और प्रायः इसी के समीपवर्ती क्षेत्र में विचरण करते थे, जबकि महावीर ने सर्वाधिक चातुर्मास राजगृह और उसके समीपवर्ती उपनगर नालंदा में किए। फिर भी, जैन आगम साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावस्ती का जैन परम्परा के साथ भी निकट सम्बंध रहा है। उसे तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ के चार कल्याणकों की पावन भूमि माना जाता है।

## !! अंगविज्ञा में जैन मंत्रों का प्राचीनतम स्वरूप !!

‘अंगविज्ञा’ पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत निमित्तशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथ है। इसका वास्तविक रचनाकाल क्या है? यह निर्णय तो अभी नहीं हो सका, किंतु इसकी भाषा, विषयवस्तु आदि की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि यह ईस्वी सन् के पूर्व का एक प्राचीन ग्रंथ है। भाषा की दृष्टि से इसमें प्राचीन अर्द्धमागधी एवं शौरसेनी के अनेक लक्षण उपलब्ध होते हैं और इस दृष्टि से इसकी भाषा उपलब्ध श्वेताम्बर मान्य आगमों की अपेक्षा प्राचीन लगती है। नमस्कार मंत्र का प्राचीनतम रूप, जो खारवेल (ई.पू. दूसरी शती) के अभिलेख में पाया जाता है, वह इसमें भी मिलता है। मेरी दृष्टि में यह ईसा पूर्व दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती के मध्य की रचना है। इसका वास्तविक काल तो इसके सम्पूर्ण अध्ययन के बाद ही निर्धारित किया जा सकता है। सामान्यतया, यह सांस्कृतिक सामग्री से भरपूर फलादेश या निमित्तशास्त्र का ग्रंथ है, किंतु इसमें अनेक प्रसंगों में जैन परम्परा में मान्य मंत्रों का उल्लेख होने से इसे जैन तंत्रशास्त्र का भी प्रथम ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमें कुल साठ अध्याय हैं। जैन साहित्य के वृहद् इतिहास, भाग ५ (पृ. २१४) में अम्बालाल शास्त्री ने इसका संक्षिप्त विवरण दिया है, जो इस प्रकार है-

‘आरम्भ में अंगविद्या की प्रशंसा की गई है और उसके द्वारा सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, जीवन-मरण आदि बातों

का ज्ञान होना सम्भव है। ३० पटलों में विभक्त आठवें अध्याय में आसनों के अनेक भेद बताए गए हैं। नौवें अध्याय में १८६८ गाथाएं हैं, जिनमें २७० विषयों का निरूपण है। इन विषयों में अनेक प्रकार की शय्या, आसन, यान, कुड्य, स्तम्भ, वृक्ष, वस्त्र, आभूषण, बर्तन, सिक्के आदि का वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में स्थापत्य सम्बंधी विषयों का महत्त्वपूर्ण वर्णन करते हुए तत्सम्बंधी शब्दों की विस्तृत सूची दी गई है। उन्नीसवें अध्याय में राजोपजीवी शिल्पी और उनके उपकरणों के सम्बंध में उल्लेख हैं। इक्कीसवां अध्याय विजयद्वार नामक है, जिसमें जय-पराजय सम्बंधी कथन हैं। बाईसवें अध्याय में उत्तम फलों की सूची दी गई है। पच्चीसवें अध्याय में गोत्रों का विस्तृत उल्लेख है। छब्बीसवें अध्याय में नामों का वर्णन है। सत्ताईसवें अध्याय में राजा, मंत्री, नायक, भाण्डागारिक, आसनस्थ, महानसिक, गजाध्यक्ष आदि राजकीय अधिकारियों के पदों की सूची है। अट्ठाईसवें अध्याय में उद्योगी लोगों की महत्त्वपूर्ण सूची है। उनतीसवां अध्याय नगरविजय नाम का है, इसमें प्राचीन भारतीय नगरों के सम्बंध में बहुत-सी बातों का वर्णन है। तीसवें अध्याय में आभूषणों का वर्णन है। बत्तीसवें अध्याय में धान्यों के नाम हैं। तैंतीसवें अध्याय में वाहनों के नाम दिए गए हैं। छत्तीसवें अध्याय में दोहद सम्बंधी विचार हैं। सैंतीसवें अध्याय में १२ प्रकार के लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है। चालीसवें अध्याय में भोजनविषयक वर्णन है। इकतालीसवें अध्याय में मूर्तियां, उनके प्रकार, आभूषण और अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं का वर्णन है। तैंतालीसवें अध्याय में यात्रा सम्बंधी वर्णन है। छियालीसवें अध्याय में गृहप्रवेश सम्बंधी शुभ-अशुभ फलों का वर्णन है। सैंतालीसवें अध्याय में राजाओं की सैन्ययात्रा सम्बंधी शुभाशुभ फलों का वर्णन है। चौवनवें अध्याय में सार और असार वस्तुओं का विचार है। पचपनवें अध्याय में जमीन में गड़ी हुई धनराशि की खोज करने के सम्बंध में विचार हैं। अट्ठावनवें अध्याय में जैनधर्म में निर्दिष्ट जीव और अजीव का विस्तार से वर्णन किया गया है। साठवें अध्याय में पूर्वभव जानने की विधि सुझाई गई है।

अंगविज्ञा की उपर्युक्त विषयवस्तु उसके सांस्कृतिक सूचनात्मक पक्ष को सूचित करती है, किंतु लेखक का मूल उद्देश्य इन सबके आधार पर विभिन्न प्रकार के फलादेश करना ही था, किंतु लेखक इतने मात्र से संतुष्ट नहीं होता है, वह अशुभ फलों के निराकरण एवं वांछित फलों की प्राप्ति के लिए विभिन्न

मांत्रिक साधनाओं का उल्लेख करता है। इसे हमें ध्यान में रखना होगा। यहां जैन मंत्रशास्त्र के साहित्य में इस ग्रंथ के उल्लेख करने का मुख्य आधार यह है कि इस ग्रंथ के विभिन्न अध्यायों में जैन परम्परा के अनुरूप मंत्र-साधना सम्बन्धी विधि-विधान भी उपलब्ध हो जाते हैं। इसके आठवें भूमिकर्म नामक अध्याय के प्रथम गजबन्ध नामक संग्रहणी पटल में जैन परम्परानुसार विविध मंत्र तथा उन मंत्रों के साधना सम्बन्धी विधि-विधान प्राकृत मिश्रित संस्कृत भाषा में दिए गए हैं, जिन्हें हम नीचे अविकल रूप से दे रहे हैं-

(अष्टमो भूमीकम्मज्झाओ)  
(तत्थ पढमं गज्जबंधेणं संगहणीपडलं)

(१) णमो अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, णमो महापुरिसस्स महतिमहावीरस्स सव्वण्णू-सव्वदरिसिस्स। इमा भूमीकम्मस्स विजा- 'इंदिआली इंदिआलि माहिंदे मारूदि स्वाहा, णमो महापुरिसदिण्णाए भगवईए अंगविजाए सहस्सवागरणाए खीरिणिविरणउदुंबरिणिंए सह सर्वज्ञाय स्वाहा 'सर्वज्ञानाधिगमाय स्वाहा सर्वकामाया स्वाहा सर्वकर्मसिद्धयै स्वाहा'।

क्षीरवृच्छायायां अष्टमभक्तिकेन गुणयितव्या क्षीरेण च पारयितव्यम्, सिद्धिरस्तु। भूमिकर्मविद्याया उपचारः- चतुर्थभक्तिकेन कृष्णचतुर्दश्यां ग्रहीतव्या, षष्ठेन साधयितव्या अहतवत्थेण कुससत्थरे १ ॥

(२) 'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, णमो आमोसहिपत्ताणं, णमो विप्पोसहिपत्ताणं, णमो सव्वोसहिपत्ताणं, णमो संभिन्नसोयाणं, णमो खीरस्सवाणं, णमो मधुस्सवाणं, णमो कुट्टबुद्धीणं, णमो पद्बुद्धीणं, णमो अक्खीणमहाणसाणं, णमो रिद्धिपत्ताणं, णमो चउद्दसपुव्वीणं, णमो भगवईय महापुरिसदिन्नाए अंगविजाए सिद्धे सिद्धासेविए सिद्धचारणाणुचित्रे अमियबले महासारे महाबलेअंगदुवारधरे स्वाहा।'

छट्टगहणी, छट्टसाधणी, जापो अट्टसयं, सिद्धा भवइ २ ॥

(३) णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो महापुरिसदिण्णाय अंगविजाए, णमोक्करयित्ता इमं मंगलं पंयोजयिस्सामि, सा मे विजा सव्वत्थं

पसिज्झउ, अत्थस्स य धम्मस्स य कामस्स य इसिसस्स आदिच्च-चंद-णक्खत्त-  
गहगण-तारा-गणाण जोगो जोगाणं णभम्मि य जं सच्चं तं सच्चं इधं मज्झं इध  
पडिरूवे दिस्सउ, पुढवि-उदधि-सलिल-अग्नि-मारूएसु य सव्वभूएसु देवेषु जं  
सच्चं तं सच्चं इध मज्झ पडिरूवे दिस्सउ।

अवेतु माणुसं सोयं दिव्वं सोयं पवत्तउ। अवेउ माणुसं रूवं दिव्वं रूवं  
पवत्तउ।।

अवेउ माणुसं चक्खुं दिव्वं चक्खू पवत्तउ। अवेउ माणुसे गंधे दिव्वे गंधे  
पवत्तउ।।

अवेउ माणुसो फासो दिव्वो फासो पवत्तउ। अवेउ माणुसा कंती दिव्वा  
कंती पवत्तउ।।

अवेउ माणुसो बुद्धी दिव्वा बुद्धी पवत्तउ। अवेउ माणुसं जाणं दिव्वं जाणं  
पवत्तउ।।

एएसु जं सच्चं तं सच्चं इध मज्झ पडिरूवे दिस्सउ त्ति, णमो  
महतिमहापुरिसदिण्णाए अंगविजा जं सच्चं तं सच्चं इध मज्झ पडिरूवे दिस्सउ,  
णमो अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं, सिज्झंतु मंता स्वाहा।

एसा विजा छट्ठग्गहणी, अट्ठमसाधणी, जापो अट्ठसयं।

(४) णमो अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं णमो सव्वसाहूणं, णमो  
भगवतीय महापुरिसदिण्णाय अंगविजाय, उभयभये णतिभये भयमाभये भवे  
स्वाहा।

स्वाहा डंडपडीहारो अंगविजाय उदकजत्ताहिं चउहिं सिद्धिं। णमो  
अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं, णमो भगवईय महापुरिसदिण्णाय अंगविजाय  
भूमिकम्म।

सच्चं भणंति अरहंता ण मूसा भासंति खत्तिया। सच्चेण अरहंता सिद्धा  
सच्चपडिहारे उ देवया ॥१॥

अत्थसच्चं कामसच्चं धमसच्चयं सच्चं तं इह दिस्सउ त्ति, अंगविजाए  
इमा विजा उत्तमा लोकमाता वंभाए ठाणथिया पयावइअंगे, एसा देवस्स  
सच्चअंगम्मि मे चक्खु।

सव्वलोकम्मि य सच्चं पद्यज्ज इसिसच्चं च जं भवे। एएण सच्चवइणेण  
इमो अट्ठो (प) दिस्सउ ॥१॥

उतं पवज्जे, भुवं पवज्जे, स्वं पवज्जे, विजयं पवज्जे, सव्वे पवज्जे,

उतदुंबरमूलीयं पव्वज्जे, पवविसस्सिमि तं पव्वज्जे, मेघडंतीयं पव्वज्जे, विज्जे  
स्वरपितरं मातरं पव्वज्जे, स्वरविज्जं पव्वज्जेति स्वाहा।

आभासो अभिमंतणं च उदकजत्ताहि चउहिं सिद्धं ४ ॥

(५) णमो अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं, णमो केवलणाणीणं  
सव्वभावदंसीणं, णमो आधोधिकानं, णमो आभिणिबोधिकानं, णमो  
मणज्जवणाणीणं, णमो सव्वभावपन्नयणरागाणं वारसंगवीणं  
अट्टमहानिमित्तायरियाणं सुयणाणीणं, णमो पण्णाणं, णमो विज्जाचारणसिद्धाणं,  
तवसिद्धाणं चेव अणगारसुविहियाणं णिग्गंथाणं, णमो महानिमित्तीणं सव्वेसिं,  
आयरियाणं, णमो भगवओ जसवओ महापुरिसस्स महावीरवद्धमाणस्स। अधापुव्वं  
खलु भो! महापुरिसस्स मणिसस्स सयसहस्स सहस्सदारस्स अपरिमियस्स  
अपरिमियसुसंमहियस्स पच्चोदारागमसंजुत्तस्स अपरिमियस्स  
अपरिमियगइविसयस्स भगवओ उवविट्ठविहिविसेसेणं १ पल्हत्थिगाविहिविसेसेणं  
२ आमसविहिविसेसेणं ३ अपस्सयविहिविसेसेणं ४ ठियविहिविसेसेणं ५  
विपिक्रियविहिविसेसेणं ६ हसितविधिविसेसेणं ७ पुच्छियविहिविसेसेणं ८  
वंदियविहिविसेसेणं ९ संलावियविहिविसेसेणं १० आगमविधिविसेसेणं ११  
रूदितविधिविसेसेणं १२ (परिदेवितविधिविसेसेणं १३) कंदियविधिविसेसेणं १४  
पडिमविधिविसेसेणं १५ अवभुट्ठिय (अप्पुट्ठीय) विधिविसेसेणं १६  
णिग्गयविधिविसेसेणं १७ पइलाइयविधिविसेसेणं १८ जंभियविधिविसेसेणं १९  
चुंबियविधिविसेसेणं २० आलिंगयिधिविसेसेणं २१ समद्धिविधिविसेसेणं २२  
सेवियविधिविसेसेणं २३ अत्तभावओ बाहिरओयओ वा अंतरंग-बाहिरंगेहि वा  
सद्-फरिस-रूव-गंधेहिं वा गुणेहिं पडिरूवसमुप्पाएहिं वा उवलद्धीवीहिसुभा-  
ऽसुभाणं संपत्ति-विपत्तिसमायोगेण उक्करिसा-ऽवकरिसा उवलद्धया भवंति॥

॥ इति ख. पु. संगहणीपडलं सम्मत्तं ॥१॥ छ ॥

इसी प्रकार, इस ग्रंथ के साठवें अध्याय में भी मंत्रसाधना सम्बन्धी निर्देश उपलब्ध हैं, जिसमें यह बताया गया है कि निर्दिष्ट मंत्रसाधना से विद्या स्वयं उपस्थित हो करके कहती है कि मैं कहां प्रवेश करूं, निर्देशानुसार प्रविष्ट होकर वह प्रश्नों का उत्तर देती है। ग्रंथकार ने यहां सबसे अधिक मनोरंजक बात यह भी लिखी है कि विद्या सिद्ध हो जाने पर जिन प्रश्नों का उत्तर देती है, उनमें १६ में से एक प्रश्न के उत्तर में भ्रांति हो सकती है, फिर भी ऐसा सिद्ध-साधक अपनी इस शक्ति के कारण अजिन होकर भी जिन के सदृश आभासित होता है। इस संदर्भ में ग्रंथ का निम्न अंश विशेष रूप से द्रष्टव्य है-

‘सिद्धं खीरिणि! खीरिणि! उदुंबरि! स्वाहा, सव्वकामदये! स्वाहा, सव्वणाणसिद्धिकरि! स्वाहा १! तिण्णि छट्ठाणि, मासं दुद्धोदणेण उदुंबरस्स हेट्ठा दिवा विज्जामधीये, अपच्छिमे छट्ठे ततो विज्जाओ य पवत्तंते रूवेण य दिस्सते, भणति-कतो ते पविसामि? तं जहा ते पविसामि तं ते अणंगं काहामीति। पविसित्ता य भणति-सोलस वाकरणाणि वा णाहिसि एक्कं चुक्किहिसि। एवं भणित्तु पविसति सिद्धा भवति।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो सव्वसाधूणं, णमो भगवती महापुरिसदिण्णाय अंगविज्जाय, आकरणी वाकरणी लोकवेयाकरणी धरणितले सुप्पतिट्ठिते आदिच्च-चंद-णक्खत्त-गहगण-तारारूवाणं सिद्धकतेणं अत्थकतेणं धम्मकतेणं सव्वलोकसुबुहेणं जे अट्ठे सव्वे भूते भविस्से से अट्ठे इध दिस्सत्तु पसिणम्मि स्वाहा २। एसा आभोयणीविज्जा आधारणी छट्ठगहणी, आधरपविसंतेण अप्पा अभिमंतइतव्वो, आकरणि वाकरणि पविसित्तु मंते जवति पुस्सयोगे, चउत्थमत्तेणमेव दिस्सति।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो भगवतो यसंवतो महापुरिसस्स, णमो भगवतीय सहस्सपरिवाराय अंगविज्जाए, इमं विज्जं पयोयेस्सामि, सा मे विज्जा पसिज्जत्तु, खीरिणि! उदुंबरि! स्वाहा, सर्वकामदये! स्वाहा, सर्वज्ञानसिद्धिरिति स्वाहा ३। उपचारो-मासं दुद्धोदणेण उदुंबरस्स हेट्ठा दिवसं विज्जामधीये, अपच्छिमे छट्ठे कातव्वे ततो विज्जा ओवयति त्ति रूवेण दिस्सति, भणति य-कतो ते पविसामि?, जतो य ते पविस्सिस्सं तीय अणंगं काहामि। पविसित्ता य भणती-सोलस वाकरणाणि वाकरेहिसि, ततो पुण एक्कं चुक्किहिसि, वाकरणाणि पण्णरस अच्छिड्डाणि भासिहिसि, ततो अज्जिणो जिणसंकासो



भविस्ससि, अंगविज्जासिद्धी स्वाहा। परिसंखा णेतव्वा, तच्छीसोपरि पुढवीयं  
ठिती विण्णोया।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रस्तुत ग्रंथ में अनेक प्रसंगों में विद्या और मंत्र साधना सम्बन्धी निर्देश उपस्थित हैं। इसके आधार पर इसे जैन मान्त्रिक साधना का प्रारम्भिक ग्रंथ माना जा सकता है।

पुनः, इस ग्रंथ की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि इसमें जैन धर्म के प्राचीन एवं प्रमुख पंच परमेष्ठी नमस्कार मंत्र के विविध रूप देखने को मिलते हैं, जिसके आधार पर नमस्कार मंत्र की विकास यात्रा को ऐतिहासिक दृष्टि से समझा जा सकता है। उदाहरण के रूप में, इसमें नमस्कार मंत्र के द्विपदात्मक, त्रिपदात्मक और पंचपदात्मक- ऐसे तीन रूप मिलते हैं।

द्विपदात्मक मंत्र - नमो अरहंताणं, नमो सव्व सिद्धाणं

ज्ञातव्य है कि प्राचीनतम जैन अभिलेखों में खारवेल का हत्थीगुफा अभिलेख, जो लगभग ईसा पूर्व दूसरी शती का है, उसमें 'नमो अरहंतानं, नमो सव्व सिद्धानं' - ऐसा द्विपदात्मक नमस्कार मंत्र मिलता है, किंतु आज तक उसका कोई साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं था। उसके साहित्यिक साक्ष्य के रूप में हमें अंगविज्जा में सर्वप्रथम यह द्विपदात्मक नमस्कार मंत्र मिला है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें सिद्ध पद के पूर्व 'सव्व' पाठ है और इस पाठ को स्वीकार करने से पांचों पदों में सात-सात अक्षर हो जाते हैं, क्योंकि अंगविज्जा में त्रिपदात्मक नमस्कार मंत्र में 'नमो सव्व साहूणं' पाठ मिलता है।

त्रिपदात्मक नमस्कार मंत्र - नमो अरहंताणं, नमो सव्व सिद्धाणं, नमो सव्व साहूणं

यहां एक विशेष बात यह देखने को मिलती है कि नमो सव्वसाहूणं पाठ में 'लोए' पाठ नहीं है, किंतु अंगविज्जा में दोनों तरह के पाठ मिलते हैं, यथा- नमो लोए सव्व साहूणं और नमो सव्व साहूणं। इसी प्रकार, इसमें पंचपदात्मक नमस्कार मंत्र भी इस ग्रंथ के मंत्र भाग में उपलब्ध है।

पंच पदात्मक नमस्कार मंत्र - नमो अरहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व साहूणं।

ज्ञातव्य है कि अंगविज्जा के पंचपदात्मक नमस्कार मंत्र में दूसरे पद के दोनों रूप मिलते हैं- नमो सिद्धाणं और नमो सव्व सिद्धाणं, किंतु हमें इस ग्रंथ में

नमस्कार मंत्र की चूलिका नहीं मिली है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह ग्रंथ और इसका मंत्र-विभाग प्राचीन है, क्योंकि नमस्कार मंत्र की चूलिका सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध होती है, अतः इस ग्रंथ का मंत्र भाग ई.पू. (दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती के मध्य और आवश्यकनिर्युक्ति) के पूर्व निर्मित है- यह माना जा सकता है।

दूसरे, अंगविज्ञा के मंत्र भाग में सूरिमंत्र और वर्द्धमान विद्या का भी पूर्व रूप मिलता है। ज्ञातव्य है कि ऋद्धिपद, लब्धिपद या सूरिमंत्र के रूप में दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड के वेदना महाधिकार के कृति अनुयोगद्वार में ४४ लब्धि पदों का उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रश्नव्याकरणसूत्र में, तत्त्वार्थभाष्य में, गणधरवलय में और सूरिमंत्र में भी इन पदों का उल्लेख मिलता है। गणधरवलय में इनकी संख्या ४५ है। सूरिमंत्र की विभिन्न पीठों में इनकी संख्या अलग-अलग है। जहां तक अंगविज्ञा का प्रश्न है, वे सभी ऋद्धिपद या लब्धिपद तो नहीं मिलते हैं, किंतु उनमें से बहुत कुछ ऋद्धि या लब्धिपद पूर्वोल्लेखित अष्टम अध्याय के संग्रहणी पटल में मिलते हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि अंगविज्ञा का मंत्र विभाग जैन मात्रिक साधना का प्राचीनतम रूप प्रस्तुत करता है।

## आचार्य हरिभद्रकृत सावमधम्मंविहिपयरणं : एक परिचय

प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को स्पष्ट करते हुए 'जिनवाणी' का श्रवण करने वाले को श्रावक कहा है, किंतु यह पर्याप्त नहीं है, उनकी दृष्टि में श्रावक होने के लिए कुछ योग्यताएं भी अपेक्षित हैं। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो श्रावक धर्म का अधिकारी है अर्थात् श्रावक होने की पात्रता रखता है उसके द्वारा ही श्रावक धर्म का आचरण सम्भव है। अनाधिकारी या अपात्र द्वारा किया गया श्रावक धर्म का परिपालन भी जिनेश्वर देव की आज्ञाभंग के दोष से दूषित होने के कारण अधर्म ही बन जाता है। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में श्रावक धर्म का अधिकारी या पात्र वही

व्यक्ति हो सकता है, जो दूसरों से भयभीत नहीं होता है, क्योंकि धार्मिक चेतना का विकास निर्भय मानसिकता में ही सम्भव है। पुनः आचार्य कहते हैं कि श्रावक धर्म का पालन कोई भी व्यक्ति अपनी कुल परम्परा से प्राप्त शुद्ध आजीविका का अर्जन करते हुए कर सकता है। श्रावक धर्म के लक्षणों की चर्चा करते हुए वे यह बताते हैं कि धर्म के प्रति प्रीति रखना, न तो किसी की निंदा करना और निंदा सुनना, अपितु निंदकों पर भी करुणा रखना श्रावक धर्म की आराधना के लिए आवश्यक है। हरिभद्र की दृष्टि में जिज्ञासुवृत्ति और चित्त की एकाग्रता भी धर्म-साधना के अन्य मुख्य अंग हैं। इसी प्रकार नियत समय पर चैत्यवन्दन (देव-वन्दन), गुरु का विनय, उचित आसन पर बैठकर धर्म श्रवण, स्वाध्याय में सतत् उपयोग- ये सभी श्रावक धर्म के आचरण के लिए आवश्यक हैं। आगे आचार्य हरिभद्र श्रावक-आचार की विशिष्टता बताते हुए कहते हैं कि अपने सदाचरण से सभी का प्रिय होना, अनिन्दित कर्म से आजीविका का उपार्जन करना, आपत्ति में धैर्य रखना, यथाशक्ति तप, त्याग और धर्म का आचरण करना यही श्रावक का मुख्य लक्षण हैं। उपर्युक्त गुणों से युक्त होकर के ही गृहस्थ धर्म का परिपालन सम्भव होता है, इन गुणों के अभाव में जिन-आज्ञा की विराधना होती है और श्रावक धर्म के परिपालन की पात्रता ही समाप्त हो जाती है।

गृहस्थधर्म के अधिकारी के लक्षणों की चर्चा के उपरांत आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत कृति में इस बात पर अधिक बल दिया है कि पंच अणुव्रत, तीन अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत रूपी श्रावक धर्म का मूल आधार सम्यक्त्व है। प्रस्तुत कृति में आचार्य ने सम्यक्त्व के संदर्भ में विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यक्त्व के क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक- ऐसे तीन प्रकारों की चर्चा की है। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बताया है कि जो न स्वयं मिथ्यात्व का सेवन करता है और न करवाता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है वही सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। मिथ्यात्व के अनेक रूपों की चर्चा करते हुए आचार्य ने सर्वप्रथम मुक्ति के निमित्त सरागी लौकिक देवताओं की उपासना को मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है। इन लौकिक देवों की पुष्पमाला आदि से पूजा करना, वस्त्रादि से उनका सत्कार करना तथा मानसिक रूप से उनके प्रति प्रीति भाव रखना- हरिभद्र की दृष्टि में ये सभी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। इसी प्रकार उन्होंने वीतराग लोकोत्तमदेव के लक्षण को लौकिक देवों

पर घटित करने को भी मिथ्यात्व माना है। उनकी दृष्टि में शुद्ध धर्माचरण से विमुख तापस, शाक्यपुत्रीयश्रमण आदि अन्य तैर्थिकों से संसर्ग रखना, उनकी प्रशंसा करना और उनके आदेशों का पालन करना भी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। मात्र यही नहीं आचार्य ने स्पष्ट रूप से जैनमुनि के वेश को धारण करने वाले, किंतु जिन-आज्ञा का सम्यक् रूप से पालन नहीं करने वाले पार्श्वस्थ आदि जैनाभासों के वंदन, पूजन को भी मिथ्यात्व ही माना है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने शिथिलाचारी, खिन्न मन से मुनि जीवन जीने वाले, आचारहीन, नित्य एक स्थान पर रहने वाले, निमित्त आदि विद्याओं के द्वारा लोकरंजन करने वाले, स्वेच्छाचारी जैन श्रमणों को भी वंदनीय नहीं माना है। उनकी दृष्टि में ऐसे जैनश्रमणों के वंदन आदि से भी मिथ्यात्व की ही अभिवृद्धि होती है। आचार्य के अनुसार ऐसे साधुओं का संसर्ग भी सम्यक्त्व का नाशक माना गया है। इसी क्रम में स्वेच्छाचारी को परिभाषित करते हुए उन्होंने बताया है कि जो आगम विरुद्ध आचरण करता है और जिन वचनों की आगम विरुद्ध मनमाने ढंग से व्याख्याएं करता है, वह स्वेच्छाचारी है। साथ ही ऐसा तथाकथित श्रमण, जो ऋद्धि-गौरव, सुख-गौरव और रस-गौरव में डूबा रहता है, मात्र यही नहीं जो चैत्यादि के निर्माण में और उनके निमित्त से धन-धान्य की वृद्धि करने हेतु कुआं, बगीचा आदि बनवाने में प्रवृत्त रहता है तथा श्रावकों पर मनमाने ढंग से कर आदि लगाकर सम्पत्ति एकत्र करता है, जिन आज्ञा का विराधक स्वेच्छाचारी श्रमण है। इस प्रकार आगम विरुद्ध आचरण करने वाले, जिन-वचन की मनमाने ढंग से अन्यथा व्याख्या करने वाले स्वच्छंद मुनियों के उपाश्रय में जाकर धर्म श्रवण आदि क्रियाएं भी हरिभद्र की दृष्टि में मिथ्यात्व का ही कारण है। श्रद्धावान् श्रावक ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के सम्पर्क में आकर निश्चित ही अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है, क्योंकि सुविहितों और स्वेच्छाचारियों के उपदेशों में विसंवाद होने के कारण उसके मन में संदेह उत्पन्न होता है। प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र तो यहां तक कहते हैं कि ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के चैत्य, उपाश्रय आदि स्थान भी मिथ्यात्व के हेतु होने से अर्धमायतन ही हैं। श्रावक को इन साधुओं के सम्पर्क आदि को भी मिथ्यात्व का जनक जानकर त्याग करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने न केवल छद्मवेशी अन्य मतावलम्बी तापसों आदि के सम्पर्क, सत्कार, स्तुति आदि को मिथ्यात्व का कारण माना, अपितु उन जैन

मुनियों , जो आगम विरुद्ध आचरण करते हैं, के सम्पर्क, सत्कार, सम्मान आदि को भी मिथ्यात्व का कारण माना है और सद्गृहस्थ को उनसे दूर रहने का ही निर्देश दिया है।

आचार्य हरिभद्र श्रावक धर्म के आधारभूत तत्त्व सम्यक्दर्शन की इस व्याख्या के प्रसंग में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यदि स्वयं इन शिथिलाचारियों के उपदेश का प्रतिषेध करने में असमर्थ हो तो, उनके उपदेश सुनने की अपेक्षा अपने कानों को बंद कर लेना ही अच्छा है। इस प्रकार उन्होंने गृहस्थसाधकों को स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि मनसा, वाचा और कर्मणा न तो मिथ्यात्व का सेवन करें, न कराएं और न मिथ्यात्व का सेवन करने का अनुमोदन करें। आचार्य अनुमोदन की सूक्ष्मता से चर्चा करते हुए यहां तक कहते हैं कि मिथ्यादृष्टियों के मध्य में निवास करना, उनके साथ खान-पान करना और उनके विचारों का प्रतिश्रवण करना भी उस विशिष्ट स्थिति में मिथ्यात्व का अनुमोदन हो जाता है, जब उससे सम्यक्त्व के दूषित होने की सम्भावना हो। यद्यपि इस चर्चा के प्रसंग में हरिभद्र यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि मात्र साथ रहने अथवा खान-पान आदि साथ-साथ करने से मिथ्यात्व का अनुमोदन नहीं हो जाता है। आचार्य की दृष्टि में इन परिस्थितियों में मिथ्यात्व का अनुमोदन तभी होता है, जब व्यक्ति स्वयं उनमें सम्मिलित होकर उन्हें अच्छा समझने लगता है। मात्र परस्पर एक दूसरे के साथ रहने आदि से ही किसी व्यक्ति को एक दूसरे का समर्थक नहीं माना जा सकता है। नगर में राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, कलाजीवी, वणिक, मालाकार, स्वर्णकार एवं सेवकजन सब साथ-साथ रहते हैं, फिर भी उन्हें एक दूसरे का समर्थक नहीं कहा जाता है। वस्तुतः संवास या परस्पर भोग-उपभोग मात्र से अनुमति सम्भव नहीं है। आचार्य तर्क देते हैं कि यदि यह हो तो फिर सम्यक्त्व में भी उन सबकी अनुमति मानना होगी। पुनः ऐसी स्थिति में अभव्य जनों का भी सम्यक्त्व में अनुमोदन मानना होगा, जिसे जैन परम्परा स्वयं स्वीकार नहीं करती है। अंत में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि सम्यक्त्व के साधक श्रावक को मिथ्यात्व से विरत होकर गुरु के समीप जाकर वीतराग अरहंत परमात्मा मेरे देव अर्थात् आराध्य हैं, अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का परिपालन करने वाले साधु ही मेरे गुरु हैं और अहिंसा ही धर्म है ऐसी प्रतिपत्ति स्वीकार करनी चाहिए। सम्यक्त्व की चर्चा के प्रसंग में आचार्य हरिभद्र ने आठ दर्शनाचार्यों का उल्लेख भी किया है

और उनकी विस्तृत विवेचना भी की है और इस प्रसंग में उन्होंने जैनधर्मदर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं को उठाया भी है। निःशंकितत्व की चर्चा करते हुए पूर्व पक्ष के रूप में वे प्रश्न उठाते हैं कि जीवों में उपयोग लक्षण समान है, तो फिर एक को भव्य और दूसरे को अभव्य कैसे माना जा सकता है? अथवा एक परमाणु-पूरित प्रदेश (क्षेत्र) में दूसरे परमाणु अवगाहन कैसे कर सकते हैं और उसी प्रदेश में सर्वव्यापी होकर कैसे रहते हैं? क्योंकि परमाणु से सूक्ष्म तो कुछ होता ही नहीं है और प्रत्येक परमाणु एक आकाश प्रदेश का अवगाहन करके रहता है, अतः एक ही आकाश प्रदेश में अनेक परमाणु सर्वव्यापी हो कैसे रह सकते हैं? हरिभद्र की दृष्टि में ये एक देश विषयक अर्थात् आंशिक शंकाएं हैं। इसी क्रम में गणिपिटक (जैन आगम) सामान्य पुरुषों द्वारा रचित है अथवा सर्वज्ञ द्वारा रचित है? ऐसी शंका करना सर्व विषयक सर्वांश शंका है, क्योंकि इससे सम्यक्त्व का आधार ही समाप्त हो जाता है।

इसी प्रकार निराकांक्षा की चर्चा करते हुए बताया गया है कि कर्मों का फल मिलेगा या न मिलेगा इस प्रकार का विचार करना आकांक्षा है। इसी प्रसंग में आचार्य ने यह भी कहा है, स्वधर्म का त्याग कर दूसरे धर्म-दर्शनों की इच्छा करना भी आकांक्षा का ही रूप है। किसी अन्य धर्म विशेष की आकांक्षा करना एक देश अर्थात् आंशिक आकांक्षा है। इससे भिन्न सभी मतों की आकांक्षा करना या यह मानना कि वे सभी धर्म या दर्शन मोक्ष की ओर ही ले जाते हैं, सर्व विषयक आकांक्षा है। यहां आचार्य ने शंका के प्रसंग में 'पेयपाई' और आकांक्षा के प्रसंग में 'राजा और अमात्य' की कथा का निर्देश दिया है। प्रस्तुत कृति में हमें कहीं भी ऐसे संकेत उपलब्ध नहीं होते हैं, जिससे हम यह कथा क्या है, इसका विवेचन कर सकें।

इसी क्रम में निर्विचिकित्सा अंग की चर्चा करते हुए कहा गया है कि विचिकित्सा अर्थात् घृणा भी दो प्रकार की मानी गई है एकांश विषयक और दूसरी सर्व विषयक। विचिकित्सा को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है कि चैत्यवंदन, व्रतपालन आदि अनुष्ठान सफल होंगे या निष्फल होंगे अथवा इनका फल मिलेगा या नहीं? ऐसे कुशंका को विचिकित्सा कहा जाता है। किंतु सामान्यतया विचिकित्सा का तात्पर्य जैन साधु के मलिन शरीर या वस्त्रादि को देखकर घृणा करना भी माना जाता है। पूर्व में स्वयं आचार्य हरिभद्र ने इसी अर्थ

का निर्देश किया है, किंतु प्रस्तुत प्रसंग में उन्होंने विचिकित्सा का एक नया अर्थ किया है। विचिकित्सा के संदर्भ में आचार्य ने श्रद्धाहीन श्रावक और विद्या की साधना करने वाले श्रद्धावान् चोर का उदाहरण तथा प्रत्यन्तवासी अर्थात् सीमान्त प्रदेशवासी श्रावक पुत्री की कथा का निर्देश भी किया है।

अमूढदृष्टि दर्शनाचार का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने बताया है कि इतर धर्मावलम्बियों की विभिन्न प्रकार की साधना विधियों के प्रति आकर्षित एवं उनके पूजा, सत्कार आदि को देखकर भ्रांत न होना ही अमूढदृष्टि है। विशिष्ट तप करने वाले; वृद्ध, ग्लान, रोगी, शैक्ष आदि की सेवा शुश्रुषा करने वाले विनयवान एवं स्वाध्यायी मुनियों की प्रशंसा करना उपब्रह्म है। इसी प्रकार धर्म मार्ग से च्युत होते हुए व्यक्तियों को पुनः धर्म मार्ग में स्थिर करना स्थरीकरण है। वस्तुतः यह धर्म साधना के क्षेत्र में खिन्न हुए व्यक्तियों को प्रोत्साहित कर उन्हें साधना में प्रतिष्ठित करना है। स्वधर्मीवात्सल्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि स्वधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य या अनुराग रखना, कष्ट के समय उनकी सहायता करना स्वधर्मीवात्सल्य है। आचार्य ने अमूढदृष्टि के प्रसंग में सुलसा श्राविका की, उपब्रह्म के संदर्भ में राजा श्रेणिक की, स्थरीकरण में आषाढाचार्य की और वात्सल्य के प्रसंग में वज्रस्वामी की कथाओं का निर्देश किया है।

अंतिम प्रभावना अंग की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि विभिन्न प्रकार लब्धियों (ऋद्धियों), विविध प्रकार की विधाओं (तंत्र-मंत्र आदि), अष्टांगज्योतिष, निमित्तशास्त्र आदि में पारंगत होकर उनके माध्यम से जिनशासन की प्रभावना करना सम्यक्-दर्शन का प्रभावना अंग है।

आचार्य ने यहां यह भी बताया है कि सम्यक्त्व का बोध होने पर भी व्रत प्रतिपत्ति अर्थात् अणुव्रतों आदि को ग्रहण करने की भावना वैकल्पिक हो सकती है, किंतु ऐसे व्यक्ति को भी सेवा एवं स्वाध्याय आदि तो नियम से करना ही चाहिए। आचार्य यह भी मानते हैं कि एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर संसार समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान व्रत आदि कालांतर में अवश्य ही प्राप्त होते हैं। सम्यक्त्व की चर्चा के उपरांत प्रस्तुत कृति में पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों की चर्चा की गई है। इस संदर्भ में आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण न करके उपासकदशा के क्रम का अनुकरण किया है। मात्र अंतर यह है कि जहां उपासकदशा में अणुव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा

द्विविध वर्गीकरण है, वहां आचार्य हरिभद्र ने कालांतर में विकसित अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा त्रिविध वर्गीकरण किया है। श्रावक के व्रतों की इस चर्चा के प्रसंग में प्रस्तुत कृति में हरिभद्र ने श्रावक को किस व्रत का परिपालन कितने योगों और कितने करणों से करना होता है, इसकी विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने करण और योग के संदर्भ में कुल भंगों की संख्या ४९ मानी है और उनको भी अतीत, अनागत और वर्तमान के साथ गुणित करने पर कुल १४७ भंग माने हैं। साथ ही यह भी बताया है कि भरतक्षेत्र के मध्यखण्ड के बाहर अनुमतिनिषेध के तीन भंग कम करने पर स्वयं के विषय में १४४ भंग होते हैं। यहां यह भी चर्चा की गई है कि भरतक्षेत्र के बाहर श्रावकों के भी सर्वव्रत साधु के समान ही तीनकरण और तीनयोग से ही होते हैं। ज्ञातव्य है कि योग (साधन) तीन हैं- १. मन, २. वचन और ३. काया। इनके संयोग से कुल सात भंग (विकल्प) होते हैं यथा- १. मन, २. वचन, ३. काया, ४. मन और वचन, ५. मन और काया, ६. वचन और काया तथा ७. मन, वचन और काया। इसी प्रकार करण भी तीन हैं- १. करना, २. कराना और ३. अनुमोदन। इनके भी सांयोगिक भंग सात ही होंगे। यथा- १. करना, २. कराना, ३. अनुमोदन, ४. करना और कराना, ५. करना और अनुमोदन करना, ६. कराना और अनुमोदन करना तथा ७. करना, कराना एवं अनुमोदन करना। इस प्रकार सात योग और सात करण को परस्पर गुणित करने पर उनचास ( $7 \times 7 = 49$ ) भंग होते हैं। ये उनचास भंग भी तीन कालों की उपेक्षा से एक सौ सैंतालीस ( $49 \times 3 = 147$ ) भंग हो जाते हैं।

इस चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में आचार्य ने श्रावक के बारह व्रतों और उनके प्रत्येक के अतिचारों की विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने भी सामान्यतया तो उन्हीं अतिचारों की चर्चा की है, जो अन्य ग्रंथों में भी वर्णित हैं। हरिभद्र द्वारा वर्णित अतिचारों की यह सूची उपासकदशा से बहुत कुछ मिलती है, किंतु कुछ अवधारणाओं को लेकर हरिभद्र का मतवैभिन्य भी दृष्टिगत होता है। उदाहरण के रूप में जहां छठें दिग्व्रत की चर्चा में जहां अन्य आचार्यों ने अन्य गुणव्रतों के समान इस गुणव्रत को भी आजीवन के लिए ग्राह्य माना गया है वहां आचार्य हरिभद्र ने दिग्व्रत का नियम चातुर्मास या उससे कुछ अधिक महीनों के लिए ही बताया है। आश्चर्य यह भी है कि उन्होंने दिग्व्रत के सर्वमान्य यथा- उर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् दिशा की मर्यादा का अतिक्रमण आदि की चर्चा के साथ



ही साथ निर्धारित क्षेत्र के बाहर आनयन और प्रेषण को भी दिग्ब्रत का अतिचार माना है। सामान्यतया इनकी चर्चा दिशावकाशिक नामक शिक्षाव्रत में की जाती है। शेष गुणव्रतों की चर्चा में कोई विशिष्ट अंतर नहीं देखा जाता है। शिक्षाव्रतों के अतिचारों का विवेचन भी उन्होंने उपासकदशा की परम्परा के अनुसार ही किया है। अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि जहां पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत आजीवन के लिए ग्रहण किए जाते हैं, वहां शिक्षाव्रत निश्चित समय के अथवा दिनों के लिए ही ग्रहण किए जाते हैं। श्रावक के १२ व्रतों की इस चर्चा के पश्चात् उन्होंने संलेखना का उल्लेख तो किया है, किंतु उसे श्रावक का आवश्यक कर्तव्य नहीं माना है।

## अंगविज्ञा और नमस्कार मंत्र की विकास यात्रा

नमस्कार मंत्र जैन धर्म का आधारभूत और सर्वसम्प्रदायमान्य मंत्र है। परम्परात विश्वास तो यही है कि यह मंत्र अनादि-अनिधन है और जैन आगमों का सारतत्त्व एवं आदि स्रोत है। इस मंत्र के संदर्भ में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है- 'चउदह पूरब केरो सार समरो सदा मंत्र नवकार' मात्र यही नहीं, नमस्कार महामंत्र का महाश्रुतस्कंध ऐसा नामकरण भी इसी तथ्य का सूचक है। आगमों के अध्ययन के पूर्व प्रारम्भ में इसी का अध्ययन कराया जाना भी यही सूचित करता है कि यह उनका आदि स्रोत है। नमस्कार मंत्र के पांचों पद व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। इन गुणों का अस्तित्व अनादि अनिधन है और ऐसे गुणीजनों के प्रति विनय का भाव स्वाभाविक है, अतः इस दृष्टि से नमस्कार मंत्र को अनादि माना जा सकता है, किंतु विद्वानों की मान्यता भिन्न है। उनके अनुसार चूलिका सहित पंचपदात्मक सम्पूर्ण नमस्कार मंत्र का एक क्रमिक विकास हुआ है। प्रस्तुत निबंध में हम अंगविज्ञा और खारवेल के अभिलेख के विशेष संदर्भ में नमस्कार मंत्र की इस विकासयात्रा का अध्ययन करेंगे।

जैन आगम साहित्य के प्राचीन ग्रंथ आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि में नमस्कारमंत्र का कोई भी

निर्देश हमें उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि दशवैकालिकसूत्र में आर्य शय्यम्भवे ने यह निर्देश किया है, कायोत्सर्ग को नमस्कार से पूर्ण करना चाहिए, किंतु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि यह नमस्कार पंचपदात्मक होता था। सामायिक सूत्र में कायोत्सर्ग के आगार सूत्र में यह पाठ आता है कि 'अरहंताणं, भगवंताणं, नमुक्कारेणं न पारेमि' अर्थात् इसे अरहंताणं से इसे पूर्ण करूंगा। वर्तमान परम्परा से इसकी पुष्टि भी होती है, फिर भी नमस्कार से तात्पर्य पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र से रहा होगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र के निर्देश जिन आगमों में उपलब्ध होते हैं, उनमें अंग आगमों में भगवतीसूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी अंग आगम ग्रंथ में नमस्कार मंत्र का निर्देश नहीं है। अंगबाह्य आगमों में प्रज्ञापनासूत्र के प्रारम्भ में भी नमस्कार मंत्र उपलब्ध होता है। प्रज्ञापना के अतिरिक्त महानिशीथ के प्रारम्भ में भी नमस्कार मंत्र का निर्देशन मिलता है। (ॐ नमो तित्थस्सा ॐ नमो अरहंताणं)।

भगवतीसूत्र एवं प्रज्ञापना के प्रारम्भ में पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र का निर्देश तो है, किंतु यह उनका अंगीभूत अंश है अथवा प्रक्षिप्त अंश है, इसको लेकर विद्वानों में मतवैभिन्न देखा जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रज्ञापना के टीकाकार मलयगिरि इसकी कोई टीका नहीं करते हैं, इसलिए यह मंत्र उसका अंगीभूत मंत्र नहीं है। इसे बाद में मंगल सूचक आदि वाक्य के रूप में जोड़ा गया है, अतः प्रक्षिप्त अंश है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि भगवतीसूत्र के प्रारम्भ में पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र तो मिलता है, किंतु उसकी चूलिका नहीं मिलती है, उसके स्थान पर 'नमो बंधी-लिविए' यह पद मिलता है। अतः यह कल्पना की जा सकती है कि ब्रह्मीलिपि के प्रति यह नमस्कारात्मकपद तभी उसमें जोड़ा गया होगा, जब इस ग्रंथ को सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया गया होगा। भगवतीसूत्र के पश्चात् प्रज्ञापनासूत्र में भी पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र उपलब्ध होता है, किंतु प्रज्ञापनासूत्र निश्चित ही ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग निर्मित हुआ है। अतः इस आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र का विकास हो चुका था। जहां तक महानिशीथ का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि उसकी मूलप्रति दीमकों से भक्षित हो जाने पर आचार्य हरिभद्र ने ही इस ग्रंथ का पुनरोद्धार किया। हरिभद्र का काल स्पष्ट रूप से लगभग ईसा की ७वीं-८वीं शताब्दी माना जाता है। अतः

महानिशीथसूत्र में चूलिका नमस्कारमंत्र की उपस्थिति उसकी विकास यात्रा को समझने में किसी भी प्रकार सहायक नहीं होती है। महानिशीथ<sup>3</sup> में जो यह बताया गया है कि 'पंचमंगल महाश्रुतस्कंध' का व्याख्यान मूलमंत्र की निर्युक्ति भाष्य एवं चूर्णि में किया गया था और यह व्याख्यान तीर्थकरों से प्राप्त हुआ था। काल दोष से वे निर्युक्तियां, भाष्य और चूर्णियां नष्ट हो गईं, फिर कुछ समय पश्चात् वज्रस्वामी ने नमस्कार महामंत्र का उद्धार कर उसे मूल सूत्र में स्थापित किया। यह वृद्धसम्प्रदाय है। यह तथ्य नमस्कारमंत्र के रचयिता का पता लगाने में सहायक होता है।

यद्यपि आवश्यक निर्युक्ति में वज्रस्वामी के उल्लेख में इस घटना का निर्देश नहीं है, फिर भी इससे दो बातें फलित होती हैं- प्रथम तो यह कि हरिभद्र के काल तक यह अनुभूति थी कि नमस्कार महामंत्र के उद्धारक वज्रसूरि थे और दूसरे यह कि उन्होंने इसे आगम में स्थापित किया। इसका तात्पर्य यह भी है कि भगवतीसूत्र में नमस्कारमंत्र की स्थापना वज्रस्वामी ने की और वे इसके उद्धारक या किसी अर्थ में इसके निर्माता हैं। वज्रस्वामी का काल लगभग ईसा की प्रथम शती है। संयोग से यही काल अंगविज्ञा का है। खारवेल का अभिलेख इससे लगभग १५० वर्ष पूर्व का है। आगमिक व्याख्या साहित्य में आवश्यक निर्युक्ति में सर्वप्रथम हमें सम्पूर्ण चूलिका सहित नमस्कारमंत्र का निर्देश मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति में पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र के साथ-साथ उसकी चूलिका भी उपलब्ध हो जाती है। मैंने अपने एक स्वतंत्र लेख में यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि निर्युक्तियों का रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग है। इससे यह फलित होता है कि चूलिका सहित पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी में अस्तित्व में आ गया था। दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम के आदि में भी पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र उपलब्ध होता है, किंतु विकसित गुणस्थान सिद्धांत को उपस्थिति आदि के कारण यह ग्रंथ ईसा की ५वीं शताब्दी के पूर्व का सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार मूलाचार में भी चूलिका सहित नमस्कारमंत्र उपलब्ध होता है, किंतु यह ग्रंथ भी लगभग ६ठी शताब्दी के आस-पास का है। इसमें तो नमस्कारमंत्र और उसकी चूलिका आवश्यक निर्युक्ति से ही उद्धृत की गई है, क्योंकि मूलाचार एवं आवश्यक निर्युक्ति में न केवल प्रस्तुत चूलिका सहित नमस्कारमंत्र उद्धृत हुआ है, अपितु उसकी अनेक गाथाएं भी उद्धृत हैं, अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आवश्यक निर्युक्ति

के काल तक अर्थात् ईसा की दूसरी शती तक नमस्कारमंत्र का पूर्णतः विकास हो चुका था। परम्परागत मान्यता यह है कि 'सिद्धाणं नमो किच्चा' अर्थात् सिद्धों को नमस्कार करके जहां तीर्थंकर दीक्षित होते हैं। जहां तक अरहंत पद का प्रश्न है- भगवती, आचारांग (द्वितीय श्रुतस्कंध), कल्पसूत्र एवं आवश्यकसूत्र के शुक्रस्तव में 'नमोत्थुणं अरहंताणं' के रूप में अरहंत को नमस्कार किया गया है। सम्भवतः यहीं से नमस्कार मंत्र की विकास यात्रा प्रारम्भ होती है। महानिशीथ सूत्र के प्रारम्भ में नमो तित्थस्स, नमो अरहंताणं- ऐसे दो पद मिलते हैं। इसमें नमस्कार मंत्र का तो मात्र एक ही पद है, फिर उसमें 'नमो सिद्धाणं' पद जुड़कर द्विपदात्मक नमस्कार मंत्र बना होगा। इस प्रकार प्रारम्भ में नमस्कारमंत्र अरहंत और सिद्ध- ऐसा द्विपदात्मक रहा होगा। यद्यपि आगमों में संयुक्त रूप से द्विपदात्मक नमस्कारमंत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता है। मथुरा के ई.पू. प्रथम शती तक के अभिलेखों में कुछ अभिलेखों में 'नमो अरहंता' यह एक पद ही मिलता है। अंगविज्ञा के चतुर्थ अध्याय 'अंगस्तय' में 'नमो अरहंताणं' ऐसा एक ही पद है जो अध्याय के आदि में दिया जाता है। इसके पश्चात् अंगविज्ञा के अष्टम अध्याय में द्विपदात्मक, त्रिपदात्मक और पंचपदात्मक नमस्कार मंत्र मिलता है। अंगविज्ञा में मुझे नमस्कारमंत्र की चूलिका नहीं मिली, इस आधार पर यह माना जा सकता है कि चूलिका की रचना अंगविज्ञा की रचना के पश्चात् ही निर्युक्तियों के रचनाकाल के समय हुई। इस प्रकार यह तो निश्चित होता है कि चूलिका रहित पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र लगभग ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में अस्तित्व आ गया था। अभी तक की शोधों के आधार पर केवल यह अंगविज्ञा के अध्ययन के बिना निश्चित हो पा रहा था कि ईसा की प्रथम शताब्दी में पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र का और ईसा की दूसरी शताब्दी में उसकी चूलिका का निर्माण हुआ होगा। उसके पूर्व नमस्कारमंत्र की क्या स्थिति थी? यह विचारणीय है। प्राचीन स्तर के आगमों यथा आचारांग आदि में 'अरहंत' पद तो प्राप्त होता है, किंतु उसके साथ 'नमो' पद की कोई योजना नहीं है। आगम में 'नमो' पद पूर्वक सिद्ध पद का प्रयोग उत्तराध्ययनसूत्र<sup>४</sup> में मिलता है। उसमें 'सिद्धाणं नमो' ऐसा प्रयोग मिला है। भगवती और कल्पसूत्र में 'नमोत्थुणं अरहंताणं', ऐसा पद मिलता है, किंतु 'नमो अरहंताणं, नमो सिद्धाणं' ऐसे दो पद मुझे देखने में नहीं आए।

इसी संदर्भ में सर्वप्रथम लगभग ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का एक अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होता है, जिसमें द्विपदात्मक नमस्कारमंत्र का निर्देश है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के खारवेल के हत्थीगुम्फा अभिलेख (ई.पू. दूसरी शताब्दी) में हमें निम्न दो पद मिलते हैं- १. 'नमो अरहंतानं', २. 'नमो सव्व सिद्धानं'।

इस प्रकार द्विपदात्मक नमस्कारमंत्र का ई.पू. का अभिलेखीय साक्ष्य तो मिला, किंतु किसी साहित्यिक साक्ष्य से इसकी पुष्टि नहीं हो पा रही थी। मात्र इतना ही नहीं, इसमें 'सिद्धानं' के साथ जो 'सव्व' विशेषण जुड़ा हुआ है, उसकी भी किसी साहित्यिक साक्ष्य से कोई पुष्टि नहीं हो पा रही थी। संयोग से जब मैं अपनी पुस्तक 'जैन धर्म और तांत्रिक साधना' का 'जैन धर्म और मंत्र साधना' नामक अध्याय लिख रहा था, तो जैन मंत्रों के प्रारम्भिक स्रोतों को खोजने हेतु अंगविज्ञा का अध्ययन कर रहा था तो मुझे उसमें न केवल द्विपदात्मक नमस्कारमंत्र प्राप्त हुआ, अपितु उसमें 'सव्व' विशेषण युक्त 'सिद्धानं' पद भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार हमें खारवेल के अभिलेख के द्विपदात्मक नमस्कारमंत्र का सम्पूर्ण साहित्यिक साक्ष्य अंगविज्ञा में प्राप्त हुआ। साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि द्विपदात्मक इस नमस्कारमंत्र के अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य समकालिक भी हैं। पुण्यविजय जी म.सा. द्वारा सम्पादित इस अंगविज्ञा की 'भूमिका' में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अंगविज्ञा को कुषाणकाल अर्थात् ईसा की प्रथम शती की रचना माना है। खारवेल का अभिलेख इससे लगभग १५० वर्ष पूर्व का होगा। इस प्रकार अंगविज्ञा, से खारवेल के अभिलेख से किंचित् परवर्ती है। यही कारण है कि अंगविज्ञा में नमस्कारमंत्र के एक पदात्मक, द्विपदात्मक, त्रिपदात्मक एवं पंचपदात्मक चारों ही रूप देखने को मिलते हैं, किंतु अंगविज्ञा में हमें नमस्कारमंत्र की चूलिका (एसो पंच नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं) का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। अतः हम कह सकते हैं कि नमस्कारमंत्र की चूलिका एक परवर्ती रचना है। इसका सर्वप्रथम निर्देश आवश्यक निर्युक्ति में उपलब्ध होता है। यदि आवश्यक निर्युक्ति को मेरी मान्यता के अनुसार आर्यभद्र की रचना माना जाए तो उसका काल ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग स्थापित होता है। इस समग्र चर्चा से इतना अवश्य फलित होता है कि पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र का विकास ईसा की प्रथम शताब्दी में आए वज्र के समय में हो चुका था। उसमें

ईसा की दूसरी शती में चूलिका जुड़ी। द्विपदात्मक नमस्कारमंत्र से पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र के विकास में लगभग एक या दो शताब्दी व्यतीत हुई। खारवेल के अभिलेख और अंगविज्ञा की रचना के बीच जो लगभग १५० वर्षों का अंतर है, वही द्विपदात्मक नमस्कारमंत्र से पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र के विकास का काल माना जा सकता है। जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं- अंगविज्ञा में एक पदात्मक, द्विपदात्मक और पंचपदात्मक चारों ही प्रकार के नमस्कारमंत्र का उल्लेख उपलब्ध है। अंगविज्ञा के प्रारम्भ में आदि मंगल के रूप में पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र है, किंतु उसके ही चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में 'मंगल' रूप में 'नमो अरहंताणं' - ऐसा एक ही पद है। पुनः अंगविज्ञा के अष्टम अध्याय में महानिमित्तविद्या एवं रूप-विद्या सम्बन्धी जो मंत्र दिए गए हैं, उसमें द्विपदात्मक नमस्कारमंत्र 'नमो अरहंताणं' और 'नमो सव्वसिद्धानं' ऐसे दो पद मिलते हैं। इसमें भी प्रतिरूपविद्या सम्बन्धी मंत्र में 'नमो अरहंताणं' और 'नमो सिद्धानं' ये दो पद मिलते हैं। 'सिद्धानं' के साथ में 'सव्व' विशेषण का प्रयोग नहीं मिलता है, किंतु महानिमित्तविद्या सम्बन्धी मंत्र में 'सव्व' विशेषण का प्रयोग उपलब्ध होता है। 'सव्व' विशेषण का उपयोग खारवेल के अभिलेखों में भी उपलब्ध है। अंगविज्ञा में प्रतिहारविद्या सम्बन्धी जो मंत्र दिया गया है, उसमें हमें त्रिपदात्मक नमस्कारमंत्र का निर्देश मिलता है। इसमें 'नमो अरहंतानं' 'नमो सव्वसिद्धानं' और 'नमो सव्वसाहूनं' ऐसे तीन पद दिए गए हैं। ज्ञातव्य है कि इसमें सिद्धों और साधुओं के साथ 'सव्व' विशेषण का प्रयोग है। अंगविज्ञा के इसी अध्याय में भूमिकर्म विद्या और सिद्धविद्या में पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र उपलब्ध होता है। यह स्पष्ट है कि त्रिपदात्मक नमस्कार मंत्र से 'आयरिआणं' और 'नमो उवज्जायाणं' ऐसे दो पदों की योजनापूर्वक पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र का विकास हुआ है। नमस्कारमंत्र की इस विकास यात्रा में इसकी शब्द योजना में भी आंशिक परिवर्तन हुआ है- ऐसा देखा जाता है। प्रथमतः 'नमो सिद्धानं' में 'सिद्ध' पद के साथ 'सव्व' विशेषण की योजना हुई और पुनः यह 'सव्व' विशेषण उससे अलग भी किया गया। अंगविज्ञा और खारवेल का अभिलेख इस घटना के साक्ष्य हैं। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं, जहां खारवेल के अभिलेख में 'नमो सव्वसिद्धानं' पाठ मिलता है वहां अंगविज्ञा में 'नमो सिद्धानं' और 'नमो सव्वसिद्धानं' पाठ मिलता है, वहां अंगविज्ञा में 'नमो सिद्धानं' और 'नमो सव्वसिद्धानं' - दोनों पाठ मिलते हैं। वर्तमान में जो नमस्कारमंत्र का 'नमो

सर्वसिद्धानं' और 'नमो सर्व साहूणं' पाठ मिलता है वह महानिशीथ सप्तम अध्याय की चूलिका के प्रचलित पाठ में अनुपलब्ध है। भगवती, प्रज्ञापना, षट्खण्डागम आदि श्वेताम्बर-दिगम्बर आगमों में जो पाठ उपलब्ध होता है, उसमें कहीं भी सिद्ध पद के साथ 'सर्व' (सर्व) विशेषण का प्रयोग नहीं है। इसी प्रकार की दूसरी समस्या 'साहू' पद के विशेषणों को लेकर भी है। वर्तमान में 'साहू' पद के साथ 'लोए' और 'सर्व' इन दो विशेषणों का प्रयोग उपलब्ध होता है। वर्तमान में 'नमो लोए सर्वसाहूणं' पाठ उपलब्ध है, किंतु अंगविज्ञा में 'नमो सर्वसाहूणं' और 'नमो लोए सर्वसाहूणं' ये दोनों पाठ उपलब्ध हैं। जहां प्रतिहार विद्या और स्वरविद्या सम्बंधी मंत्र में 'नमो सर्वसाहूणं' पाठ है, वहीं अंगविद्या, भूमिकर्मविद्या एवं सिद्धविद्या में 'नमो सर्वसाहूणं' - ऐसा पाठ मिलता है। भगवतीसूत्र की कुछ प्राचीन हस्त-प्रतियों में भी 'लोए' विशेषण उपलब्ध नहीं होता है- ऐसी सूचना उपलब्ध है, यद्यपि इसका प्रमाण मुझे अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। किंतु तेरापंथ समाज में 'लोए' पद रखने या न रखने को लेकर एक चर्चा अवश्य प्रारम्भ हुई थी और इस सम्बंध में कुछ ऊहापोह भी हुआ था, किंतु अंत में उन्होंने 'लोए' पाठ रखा। ज्ञातव्य है कि विशेषण रहित 'नमो साहूणं' पद कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। अतः नमस्कारमंत्र के पंचम पद के दो रूप मिलते हैं- 'नमो सर्वसाहूणं' और 'नमो लोहे सर्वसाहूणं' और ये दोनों ही रूप अंगविज्ञा में उपस्थित हैं। इस सम्बंध में अंगविज्ञा की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि जहां त्रिपदात्मक नमस्कार मंत्र का प्रयोग है वहां मात्र 'सर्व' विशेषण का प्रयोग हुआ है और जहां पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र का उल्लेख है वहां 'लोए' और 'सर्व' दोनों का प्रयोग है। जबकि 'सिद्धाणं' पद के साथ पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र में कहीं भी 'सर्व' विशेषण का प्रयोग नहीं हुआ है, मात्र द्विपदात्मक अथवा त्रिपदात्मक नमस्कारमंत्र में ही 'सिद्धाणं' पद के साथ 'सर्व' विशेषण का प्रयोग देखने में आता है। अंगविज्ञा में नमस्कारमंत्र में तो नहीं, किंतु लब्धिपदों के नमस्कार सम्बंधी मंत्रों में 'आयरिआणं' पद के साथ 'सर्वेसिं' विशेषण भी देखने को मिला है। वहां पूर्ण पद इस प्रकार है- 'णमो माहणिमित्तीणं सर्वेसिं आयरिआणं'। आवश्यक निर्युक्ति में उल्लेख है- 'आयरिअ नमुक्कारेण विज्ञामंता य सिज्झंति'। इससे यही फलित होता है कि विद्या एवं मंत्रों की साधना का प्रारम्भ आचार्य के प्रति नमस्कार पूर्वक होता है। इसी संदर्भ में 'नमोविज्ञाचारणसिद्धाणं तवसिद्धाणं' - ऐसे दो प्रयोग भी

अंगविज्ञा में मिलते हैं। ज्ञातव्य है कि यहां 'सिद्ध' पद का अर्थ वह नहीं है जो अर्थ पंचपदात्मक नमस्कारमंत्र में है। यहां सिद्ध का तात्पर्य चारणविद्या सिद्ध अथवा तप-सिद्ध है, न कि मुक्त-आत्मा।

नमस्कारमंत्र के प्रारम्भ में 'नमो' में दन्त्य 'न' का प्रयोग हो या मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग हो इसे लेकर विवाद की स्थिति बनी हुई है। जहां श्वेताम्बर परम्परा के ग्रंथों में 'नमो' और 'णमो' दोनों ही रूप मिलते हैं, वहां दिगम्बर परम्परा में 'णमो' ऐसा एक ही प्रयोग मिलता है। अब अभिलेखीय आधारों पर विशेष रूप से खारवेल के हत्थीगुम्फा अभिलेख और मथुरा के जैन अभिलेखों के अध्ययन से सुस्पष्ट हो चुका है कि 'नमो' पद का प्रयोग ही प्राचीन है और उसके स्थान पर 'णमो' पद का प्रयोग परवर्ती है। वस्तुतः शौरसेनी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण के 'नोणः' सूत्र के आधार पर परवर्ती काल के दन्त्य 'न' के स्थान पर मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग होने लगा। इस सम्बंध में अंगविज्ञा की क्या स्थिति है? यह भी जानना आवश्यक है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अपने द्वारा सम्पादित अंगविज्ञा में नमस्कारमंत्र के प्रसंग में 'नमो' के स्थान पर 'णमो' का ही प्रयोग किया है, किंतु मूल में 'णमो' शब्द का प्रयोग स्वीकार करने पर हमें अंगविज्ञा की भाषा की प्राचीनता पर संदेह उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि प्राचीन अर्धमागधी में सामान्यतः 'नमो' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस संदर्भ में मैंने मुनि श्री पुण्यविजय जी के सम्पादन में आधारभूत रही हस्तप्रतों के चित्रों का अवलोकन किया। यद्यपि उनके द्वारा प्रयुक्त हस्तप्रतों में 'नमो' और 'णमो' दोनों ही रूप उपलब्ध होते हैं। जहां कागज की दो हस्तप्रतों में 'नमो' पाठ है, वहां कागज के एक हस्तप्रत में 'णमो' पाठ है। इसी प्रकार सम्पादन में प्रयुक्त ताडपत्रीय दो प्रतों में से जैसलमेर की प्रति (१४वीं शती) में 'नमो' पाठ है। लेकिन परवर्ती खम्भात में लिखी गई (१५वीं शती के उत्तरार्ध १४८१ में लिखी गई निजी संग्रह) प्रति में 'णमो' पाठ है। मात्र यही नहीं कागज की उनके स्व संग्रह की जिस प्रति में 'णमो' पाठ मिला है उसमें भी प्रथम चार पदों में ही 'णमो' पाठ है। पंचम पद में 'नमो' पाठ ही है। यही नहीं आगे लब्धिपदों के साथ भी 'नमो' पाठ है। होना तो यह था कि सम्पादन करते समय उन्हें 'नमो' यह प्राचीन प्रतियों का पाठ लेना चाहिए था, किंतु ऐसा लगता है कि मुनि श्री ने भी हेमचंद्र-व्याकरण के 'नोणः' सूत्र को आधार मानकर 'नमो' के स्थान पर 'णमो' को ही व्याकरण सम्मत स्वीकार किया है। आश्चर्य है कि मुनिश्री ने अंगविज्ञा की प्रस्तावना में ग्रंथ की



भाषा और जैन प्राकृत के विविध प्रयोग शीर्षक के अंतर्गत महाराष्ट्री प्राकृत से जैन प्राकृत (अर्धमागधी) के अंतर की लगभग चार पृष्ठों में विस्तृत चर्चा की है और विविध व्यंजनों के विकार, अविकार और आगम को समझाया भी है, फिर भी उसमें 'न' और 'ण' के सम्बंध में कोई चर्चा नहीं की है। सम्भवतः उन्होंने 'ण' के प्रयोग को ही उपयुक्त मान लिया था, किंतु मेरा विद्वानों से अनुरोध है कि उन्हें अभिलेखों और प्राचीन हस्तप्रतों में उपलब्ध 'नमो' पाठ को अधिक उपयुक्त मानना चाहिए। वस्तुतः मुनि श्री पुण्यविजय जी ने जिस काल में अंगविज्जा के सम्पादन का दुरूह कार्य पूर्ण किया, उस समय तक 'न' और 'ण' में कौन प्राचीन है यह चर्चा प्रारम्भ ही नहीं हुई थी। मेरी जानकारी में इस चर्चा का प्रारम्भ आदरणीय डॉ. के.आर. चंद्रा के प्रयत्नों से हुआ है, अतः भविष्य में जब कभी इसका पुनः सम्पादन, अनुवाद और प्रकाशन हो तब इन तथ्यों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। वस्तुतः महान अध्यवसायी और पुरुषार्थी मुनि श्री पुण्यविजय जी के श्रम का ही यह फल है कि आज हमें अंगविज्जा जैसा दुर्लभ ग्रंथ अध्ययन के लिए उपलब्ध है। विद्वद्गण उनके इस महान कार्य को कभी नहीं भूलेंगे। आज आवश्यकता है तो इस बात की कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुदित करके प्रकाशित किया जाए, ताकि प्राकृत भाषा से अपरिचित लोग भी भारतीय संस्कृति की इस अनमोल धरोहर का लाभ उठा सकें।

अंगविज्जा भारतीय निमित्त शास्त्र की विविध विधाओं पर प्रकाश डालने वाला अद्भुत एवं प्राचीनतम ग्रंथ है। इसी प्रकार जैन तंत्र शास्त्र का भी यह अनमोल एवं प्रथम ग्रंथ है। परम्परागत मान्यता और इस ग्रंथ में उपलब्ध आंतरिक साक्ष्य इस तथ्य के प्रमाण हैं कि यह ग्रंथ दृष्टिवाद के आधार पर निर्मित हुआ है (बारसमे अंगे दिट्ठवाए... सुत्तक्कियं तओ<sup>६</sup> इसमें भारतीय संस्कृति और इतिहास की अमूल्य निधि छिपी हुई है। मुनिश्री पुण्यविजय जी ने अति श्रम करके इसके विभिन्न परिशिष्टों में उसका संकेत दिया है और उसी आधार पर वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसकी विस्तृत भूमिका लिखी है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अंगविज्जा भारतीय संस्कृति का अनमोल ग्रंथ है। इसका अध्ययन अपेक्षित है। प्रस्तुत प्रसंग में मैंने अंगविज्जा के परिप्रेक्ष्य में मात्र नमस्कारमंत्र की विकास यात्रा की चर्चा की। आगे इच्छा है कि अंगविज्जा के आधार पर लब्धि पदों की विकास यात्रा की चर्चा की जाए। ये लब्धि पद सूरिमंत्र और जैन तांत्रिक साधना

का आधार हैं और इनका प्रथम निर्देश भी अंगविज्ञा में मिलता है। साथ ही ये नमस्कारमंत्र के ही विकसित स्वरूप हैं। इसकी विस्तृत चर्चा आगे किसी शोध लेख में करेंगे। वस्तुतः मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अंगविज्ञा को सम्पादित एवं प्रकाशित करके ऐसा महान उपकार किया है कि केवल इस पर सैकड़ों शोध लेख और बीसों शोध-प्रबंध लिखे जा सकते हैं। विद्वत् वर्ग इस सामग्री का उपयोग करें, यही मुनि श्री के प्रति उनकी सर्वोत्तम श्रद्धांजलि होगी।

संदर्भ -

१. सामायिक सूत्र (कायोत्सर्ग-आगार सूत्र-४)
२. महानिशीथ, (श्रीआगमसुधासिन्धुः-दशमो विभागः) संपा. श्री विजय जिनेंद्र सूरीश्वर, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला ग्रंथांक-७७, लाखा बावल, शांतिपुरी सौराष्ट्र, १/१)
३. तिथ्यंर गुणाणमणंत भागमलब्धंतमन्नत्थ, वही-३/२५
४. सिद्धाणं णमो किच्चा, उत्तराध्ययनसूत्र, (नवसुत्ताणि) जैन विश्वभारती, लाडनूं, २०/१ .
५. आवश्यक निर्युक्ति, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रं.मा., लाखाबावल, सौराष्ट्र-१११०
६. अंगविज्ञा- १/१०-११, पृ.१



## प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा-मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी हैं। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती हैं।

इस परिसर में साधु-साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

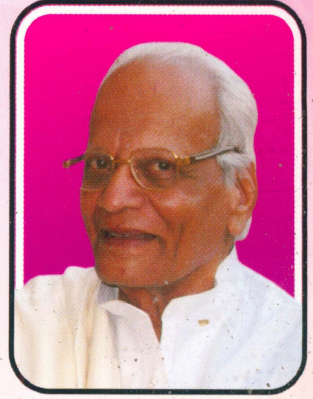
शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।



## डॉ. सागरमल जैन

जन्म : दि. 22.02.1932  
जन्म स्थान : शाजापुर (म.प्र.)  
शिक्षा : साहित्यरत्न : 1954  
एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963  
पी-एच.डी. : 1969



### अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा: 1964-67  
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा : 1968-85  
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा : 1985-89

निदेशक,

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

: 1979-1987 एवं 1989-1997

लेखन

: 49 पुस्तकें

सम्पादन

: 160 पुस्तकें

प्रधान सम्पादक

: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ  
विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

### पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार

: 1986 एवं 1998

स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार

: 1987

डिप्टीमल पुरस्कार

: 1992

आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान

: 1994

विद्यावारधि सम्मान

: 2003

प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए

: 2007

वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)

: 2007

गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)

: 2008

आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान

: 2009

विद्याचन्द्रसूरी सम्मान

: 2011

समता मनीषी सम्मान

: 2012

सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ

: पूर्व सदस्य - विद्वत् परिषद, भोपाल  
विश्वविद्यालय, भोपाल

सदस्य - जैन विश्वभारती संस्थान,  
लाडनूँ

: पूर्व सदस्य - मानद निदेशक, आगम,  
अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान,  
उदयपुर।

सम्प्रति

: संस्थापक - प्रबंध न्यासी एवं निदेशक  
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

पूर्वसचिव: पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

विदेश भ्रमण

: यू.एस.ए., शिकागो, राले, ह्यूटन,  
न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन,  
सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स,  
सेंट लुईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टो, (कनाडा)  
न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काठमाडूँ  
(नेपाल)